आत्मसिद्धि

प्रकाशक

हेमचंद टोकरशी महेता

१०८, झवेरी बज़ार,

बम्बई.

श्रीमद्राजचन्द्रविरचित

आत्मसिद्धि

संस्कृत पद्य-लेखक,

श्रीयुक्त पं० बहेचरदास,

न्याय और व्याकरणतीर्थ

हिन्दी-लेखक और सम्पादक,

श्री० पं० उदयलाल काशलीवाल

द्वितीय संस्करण

संवत् १९९३—आषाढ़

[illegible] की

अनुमति से प्रकाशकः

हेमचंद टोकरशी महेता

१०८, झवेरी बज़ार, उस्ताद बीलडींग,

बम्बई

मुद्रकः

रामचंद्र येसू शेडगे,

निर्णयसागर प्रेस,

२६–२८, कोलभाट स्ट्रीट,

कालबादेवी–बम्बई

"मेरे जीवन पर श्रीमद् राजचन्द्रभाईका ऐसा स्थायी प्रभाव पड़ा है कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। उनके विषयमें मेरे गहरे विचार हैं। मैं कितने ही वर्षोंसे भारतमें धार्मिक पुरुषकी शोधमें हूँ; परन्तु मैंने ऐसा धार्मिक पुरुष भारतमें अब तक नहीं देखा जो श्रीमद् राजचंद्रभाईके साथ प्रतिस्पर्द्धामें खड़ा हो सके। उनमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति थी; ढोंग, पक्षपात या राग-द्वेष न थे। उनमें एक ऐसी महती शक्ति थी कि जिसके द्वारा वे प्राप्त हुए प्रसंगका पूर्ण लाभ उठा सकते थे। उनके लेख अँगरेज़ तत्त्वज्ञानियों की अपेक्षा भी विचक्षण, भावनामय और आत्म-दर्शी हैं। यूरपके तत्त्व-ज्ञानियोंमें मैं टाल्स्टॉयको पहली श्रेणीका और रस्किनको दूसरी श्रेणीका विद्वान् समझता हूँ; पर श्रीमद् राजचंद्रभाईका अनुभव इन दोनोंसे भी बढ़ा-चढ़ा था।

इन महापुरुषके जीवनके लेखोंको आप अवकाशके समय पढ़ेंगे तो आप पर उनका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ेगा। वे प्रायः कहा करते थे कि मैं किसी बाड़ेका नहीं हूँ; और न किसी बाड़ेमें रहना ही चाहता हूँ। ये सब तो उपधर्म–मर्यादित हैं और धर्म तो असीम है कि जिसकी व्याख्या ही नहीं हो सकती। वे अपने जवाहरातके धंधेसे विरक्त होते कि तुरंत पुस्तक हाथमें लेते। यदि उनकी इच्छा होती तो उनमें ऐसी शक्ति थी कि वे एक अच्छे प्रतिभाशाली बैरिस्टर, जज या वाइसराय हो सकते। यह अतिशयोक्ति नहीं; किन्तु मेरे मन पर उनकी छाप है। इनकी विचक्षणता दूसरे पर अपनी छाप लगा देती थी।"

महात्मा गाँधी

(राजचंद्र–जयंति के समय के उद्गार)

विज्ञप्ति

प्रथमावृत्ति

श्रीमद् राजचन्द्रके सम्बन्धकी चर्चा करते हुए एक-दो बार महात्मा गाँधीजीने उनकी रचनाओंका भिन्न भिन्न भाषाओंमें तथा खास कर भारतकी भावी राष्ट्रभाषा हिन्दीमें अनुवाद करा कर प्रकाशित करनेकी मुझे सूचना की थी। आपकी इस उपयुक्त सूचनाका मुझे बड़ा ही खयाल रहा करता था; परन्तु अब तक वैसा योग न मिलनेके कारण मैं उसके पालन करनेमें असमर्थ रहा। परमात्माकी कृपासे मैं अब ऐसा योग लाभ कर सका हूँ; और जिसके फल-स्वरूप ही यह श्रीमद् राजचंद्रकी 'आत्म-सिद्धि' नामकी छोटीसी कृति—जिसमें कि संक्षिप्तमें सर्व दर्शनोंका सार भरा हुआ है—लेकर हिन्दी-पाठकोंकी सेवामें उपस्थित हूँ। यह

कृति मूल गुजराती भाषामें है, उसके सहारेसे संस्कृत पद्योंकी रचना श्रीयुक्त न्यायतीर्थ पंडित बहेचरदासने की है और उसका हिन्दी अनुवादका सम्पादन श्रीयुक्त पं० उदयलाल काशलीवालने किया है। मुझे आशा है कि मेरा यह प्रयत्न जनताको लाभकारक होगा। इसके अतिरिक्त श्रीमद् राजचन्द्रकी अन्य रचनाओंको भी हिन्दीमें प्रकाशित करनेका प्रयत्न शुरू है।

मनसुखलाल रवजीभाई महेता

द्वितीयावृत्ति

ये "आत्मसिद्धि" के पद श्रीमद् राजचन्द्र ने संवत् १९५२ में लिखे, जब वे नडियाद में स्थिर थे। यह पुस्तक वह समय जन-समाज के लिये नहीं, पर उनके संसर्ग में आये हुए एक वृद्ध आत्मार्थी मुमुक्षु के लिये रची गई थी।

सौराष्ट्र प्रान्त के सायला गाम में श्री सौभाग्यचंद लल्लुभाई नाम के एक परम तत्त्व-जिज्ञासु मुमुक्षु रहते थे। उनकी श्रीमद् पर अद्वितीय श्रद्धा थी। शारीरिक अवस्था बहुत निर्बल हो जाने पर जब ज्यादा पढ़न-श्रवण आदि श्री सौभाग्यभाई से न हो सका तब उन्हों ने श्रीमद् राजचन्द्रजी को विनंति की कि यदि श्रीमद् ने उनके लिये संक्षेप में सारा 'तत्त्वसार' आ जाय ऐसी कोई ग्रन्थरचना कर दी, तो वे आप को बड़े भाग्यवंत समझेंगे।

एक आत्मानुभवी वृद्ध पुरुष की जिज्ञासा संतुष्ट करनेका उद्देश से श्रीमद् ने एक से डेढ़ दिन में ये आत्मसिद्धि के पद बनाकर सौभाग्यचन्दजी को भेज दिये थे।

यह सच है कि ये पद एक व्यक्ति के लिये लिखे गये हैं। लेकिन ज्ञानी पुरुष के वचन एक

व्यक्ति के लिये लिखे हुए होते पर भी सभी जीवों को समान उपकारक होते हैं।

ये पद के ऊपर खंबायत के एक परम मुमुक्षु श्रीयुक्त अंबालाल लालचन्द ने विवेचन किया है। वह समय यह विवेचन पर श्रीमद् की नजर हो गई थी।

ये पद का अंग्रेजी विवेचन श्रीमान् राव-बहादूर जुगमंदिरलाल जैनी, एम० ए० ने किया है, जो "आत्मसिद्धि" की अंग्रेजी आवृत्ति में छपा हुआ है।

यह हिंदी "आत्मसिद्धि" की प्रथम आवृत्ति मुरब्बी मनसुखभाई ने संवत् १९७५ में प्रसिद्ध की थी। वह खप जाने से यह दुसरी आवृत्ति छोटे कद में छपी है।

हेमचंद टोकरशी महेता

श्रीमद् राजचंद्र की
दर्शनोद्धार भावना.

संवत् १९५२, ज्येष्ठ शुद...के पत्रमें श्रीमद् ने झवेरी माणेकलाल घेलाभाई पर दर्शनोद्धार के बारे में लिखे हुए अपने बिचारोंका भावार्थ यह है:-

"हमें जैनदर्शनकी दृष्टिसे सम्यग्दर्शन और वेदान्तकी दृष्टिसे केवलज्ञानका होना संभव है। मात्र जैनदर्शनमें जो केवलज्ञानका स्वरूप लिखा है उसका समझना कठिन पड़ जाता है। और वर्तमान कालमें जैनदर्शनने ही उसकी प्राप्तिका निषेध किया है, इस लिए उसके लिए तो प्रयत्न करना सफल ही नहीं हो सकता।"

"जैनधर्मके साथ हमारा विशेष सम्बन्ध रहा है, इस लिए उसका उद्धार हम जैसोंके द्वारा,

हर प्रयत्नसे विशेषतया हो सकता है। क्योंकि उसके उद्धार करनेवालेके लिए इस बातकी आवश्यकता है कि उसने जैनधर्मका स्वरूप भली भाँति समझ लिया हो,—आदि———।

वर्तमानमें जैनदर्शन इतना अधिक अव्यवस्थित अथवा विपरीत स्थितिमें देखनेमें आता है कि उसमेंसे मानों जिनभगवान्के———हैं; और लोग उसी मार्गका प्ररूपण करते हैं। बाह्य आडम्बर बहुत बढ़ा दिया गया है और अन्तरंग ज्ञानका एक प्रकार विच्छेद हीके जैसा हो गया है। वैदिक मार्गमें दोसौ—चारसौ वर्षोंमें कोई कोई महान् आचार्य हुए दिखाई पड़ते हैं कि जिनसे वैदिक मार्गका प्रचार बढ़ कर लाखों मनुष्य उसके धारक हो गये। और साधारणतया उसमें कोई आचार्य तथा उसके जानकार विद्वान् होते भी रहते हैं। जैनधर्ममें

बहुत वर्षोंसे ऐसा नहीं हुआ। और उसके धारकोंकी संख्या भी बहुत थोड़ी है। इसके सिवाय उसमें सैकड़ों ही भेद-प्रभेद हो रहे हैं। इतना ही नहीं, किन्तु मूलमार्गकी बात भी इन लोगोंके कानों तक नहीं पहुँचती और न इसके वर्तमान उपदेशकों—प्रवर्त्तकों—का ही लक्ष्य इस ओर है। जैनधर्मकी ऐसी स्थिति हो रही है। इसी कारण चित्तमें ये विचार उठा करते हैं कि यदि इस मार्गका प्रचार बढ़ सके तो वैसा करना चाहिए, अन्यथा उसके वर्तमान पालन करनेवालोंको उसके मूलमार्गकी ओर लगाना उचित है।"

"यह काम बड़ा विकट है। इसके सिवाय जैनधर्मको स्वयं समझना तथा दूसरेको समझाना और भी कठिन है। दूसरोको समझाते समय बहुतसे विपरीत कारण आकर उपस्थित

हो जाते हैं। ऐसी स्थितिको देख कर उसमें प्रवृत्त होनेको जी नहीं चाहता—डरसा लगता है। इसीके साथ यह विचार भी आता है कि इस कालमें हमारे द्वारा कुछ कार्य हो सके तो हो सकता है; यह नहीं देख पड़ता कि मूलमार्गके सन्मुख होनेके लिए वर्तमानमें किसी दूसरेका प्रयत्न सफल हो। कारण यह कि प्रायः दूसरे लोग मूलमार्गको जानते नहीं हैं या उसका स्वरूप उनके ध्यानमें नहीं है। इसी प्रकार उसका उपदेश करनेके लिए परम श्रुतज्ञता आदि गुण होने चाहिए तथा कितने ही अन्तरंग गुणोंके होनेकी भी आवश्यकता है। यह द्रढ़ प्रतीति होती है कि ऐसे कुछ गुण इस व्यक्तिमें है। इस प्रकार यदि मूलमार्गके उद्धार करनेकी आवश्यकता हो तो उस उद्धारका कार्य करनेवाले व्यक्तिको सर्व-संगका

परित्याग करना उचित है; क्योंकि ऐसा करने पर ही सच्चे उपकार करनेका मौका मिल सकता है। वर्तमान दशा तथा हाथ नीचेके कार्योंकी जोखमदारीको देखते हुए कुछ समयके बाद सर्व-संग परित्यागका अवसर मिलना संभव है। हमें अपने सहज स्वरूपका ज्ञान है। इस कारण योग-साधनकी उतनी अपेक्षा न होनेसे हमने उस ओर अपनी प्रवृत्ति नहीं की। परन्तु उस योगको सर्व-संग-परित्याग अथवा विशुद्ध देशत्यागकी ओर लगाना उचित जान पड़ता है। इससे लोगोंका बहुत उपकार होना संभव है; यद्यपि वास्तविक उपकारका कारण तो आत्म-ज्ञानको छोड़ कर और कुछ नहीं हो सकता।"

"अभी दो वर्ष तक तो ऐसा अवसर नहीं देख पड़ता कि जिसमें वह योगसाधन विशेषतया उदयमें आ सके। इसके बाद उसके प्राप्त

होनेकी संभावना की जाती है। इस मार्गमें तीन चार वर्ष बिताये जायँ तब कहीं सर्व-संग-परित्यागी उपदेष्टा बननेकी योग्यता प्राप्त की जा सकती है और तब ही लोगोंका कल्याण हो सकता है। छोटी उमरमें मार्गके उद्धार करनेकी बड़ी जिज्ञासा रहा करती थी। इसके बाद जब कुछ कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ तब क्रम-क्रमसे वह जिज्ञासा शान्तसी होती गई। परंतु इधर जो कुछ लोगोंका सम्बन्ध हुआ तो उन्हें मूलमार्गमें कुछ विशेषता दिखाई पड़नेके कारण उन्होंने उसकी ओर अपना लक्ष्य भी दिया। इसके बाद जो अब सैंकड़ों तथा हजारों लोगोंसे सम्बन्ध हुआ तो जान पड़ा कि उनमें बहुतसे ऐसे मनुष्य निकल सकते हैं जो सम-झदार हैं और सच्चे उपदेश पर आस्था रख-नेवाले हैं। इस परसे यह जान पड़ता है कि लोग (संसार-सागरसे) तरनेके तो बडे

इच्छुक हैं पर उन्हें वैसा योग नहीं मिलता। जो वास्तवमें सच्चे उपदेशकका योग मिले तो निस्सन्देह बहुतसे प्राणी मूलमार्गको प्राप्त कर सकते हैं; और दया आदिका बहुत उद्योत हो सकता है। इस स्थितिके देखनेसे चित्तमें विचार उठते हैं कि कोई इस कामको करे तो बहुत ही अच्छा हो; परन्तु दृष्टि देनेसे ऐसा कोई पुरुष दिखाई नहीं पड़ता जो इस कामको कर सके। दृष्टि इस कामके लिए लेखकको कुछ योग्य समझती हैं; परन्तु इसका तो जन्मसे ही यह लक्ष्य रहा है कि इसके जैसा जोखम भरा एक भी काम नहीं है और इस लिए जहाँ तक स्वयं इस कार्यके करनेकी योग्यता न आ जाय तब तक इसकी इच्छा मात्र भी करना उचित नहीं है। और बहुधा करके अब तक इसी प्रकारकी प्रवृत्ति की गई है। मूलमार्गका थोड़ा-बहुत स्वरूप कुछ

लोगोंको समझाया है; तथापि किसीको भी एक व्रत तथा प्रत्याख्यान—त्याग-धारण नहीं कराया और न किसीसे यह कहा कि तुम हमारे शिष्य हो और हम तुम्हारे गुरु हैं। कहनेका मतलब यह है कि सर्व-संग-परित्याग किये बाद सहज स्वभावसे ही इस कार्यमें प्रवृत्ति हो तो इसे करना; और ऐसी ही मनोभावना है।"

इस प्रवृत्तिके लिए कोई खास आग्रह नहीं है। मात्र अनुकम्पा तथा ज्ञान-प्रभावके कारण यह वृत्ति जाग्रत हो जाती है। अथवा कुछ अंशमें यह वृत्ति अंगमें विद्यमान भी है; तथापि विश्वास है कि वह अपने वशमें है। इसी प्रकार सर्व-संग-परित्याग आदि गुण हों तो हजारों मनुष्य मूलमार्गको प्राप्त कर सकते हैं और हजारों इस श्रेष्ठ मार्गकी आराधना करके सद्गति लाभ कर सकते हैं। यह हमसे बनना संभव भी है। हममें वह त्याग शक्ति

भी है जिसे देख कर हजारों प्राणी हमारे साथ साथ त्याग-वृत्ति धारण कर सकते हैं। धर्म स्थापन करनेका मान बहुत बड़ा है और बहुत संभव है कि उस मानकी इच्छासे भी कभी ऐसी वृत्ति हो सकती है; परन्तु इसकी परीक्षाके लिए आत्माको हमने बहुत बार तपाकर देखा तो जान पड़ा कि उस मानका होना ऐसी दशामें बहुत कम संभव है; और यह दृढ़ विश्वास है कि सत्तामें वह कुछ होगा भी तो नष्ट हो जायगा। आत्मामें यह निश्चय है कि यदि शरीरके नष्ट हो जानेका विश्वास भी हो जाय तब भी बिना पूर्ण योग्यता प्राप्त किये मूलमार्गका कभी उपदेश न करना। इसी एक बलवान् कारणसे परिग्रहादिके त्याग करनेका विचार उठा करता है। मुझे यह विश्वास है कि यदि वैदिक धर्मका प्रचार करना हो या उसकी स्थापना करनी हो तो मेरी यह दशा

उस कामके योग्य है; परन्तु जिनप्रणीत मार्गके स्थापन करनेकी योग्यता अभी मुझमें नहीं है; तथापि जो भी कुछ योग्यता है, इतना अवश्य है कि वह कोई खास प्रकारकी योग्यता है।

"हे नाथ, या तो धर्मोन्नतिके विचार सहज ही शान्त हो जायँ या वे कार्यमें अवश्य ही परिणत हों। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि उनका कार्य-रूपमें परिणत होना बहुत ही दुष्कर है। क्योंकि छोटी छोटी बातोंमें लोगोंका बड़ा मत-भेद है और उनका मूल बहुत ही गहरा चला गया है। लोग मूलमार्गसे लाखों कोस दूर पड़ गये हैं, इतना ही नहीं किन्तु उनमें मूलमार्गकी जिज्ञासा उत्पन्न करना भी अब बहुत कालकी अपेक्षा रखता है, इस लिए कि दुराग्रह आदिके कारण उनकी दशा जड़-प्रधान हो रही है।"

भूमिका

[लेखक, स्व० श्रीमद् राजचन्द्र]

दुःख सब जीवोंको अप्रिय लगता है, तो भी उसका अनुभव उन्हें करना पड़ता है। इस लिए दुःखका कोई कारण अवश्य होना चाहिए। जान पड़ता है इस भरत-भूमिसे ही प्रधानतया विचारशीलोंके विचारोंका विकास हुआ है और उसीके द्वारा फिर क्रमसे आत्मा, कर्म, परलोक और मोक्ष आदि भावोंका स्वरूप सिद्ध हुआ है।

वर्तमानमें जब अपना अस्तित्व देखा जाता है तब भूत-कालमें भी उसे होना चाहिए; और इसी प्रकार भविष्यमें भी उसका होना आवश्यक है। मुमुक्षुओंको इसी प्रकारके विचारोंका आश्रय लेना कर्तव्य है। विचार करने पर जान पड़ता है कि किसी भी वस्तुका भूत और भवि-

ष्यमें अस्तित्व न हो तो वर्तमानमें उसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता।

जिन प्रभुका सिद्धान्त है कि वस्तुका सर्वथा उत्पाद या विनाश नहीं होता; उसका अस्तित्व सदा ही बना रहता है; मात्र रूपान्तर होता रहता है—उसकी अवस्थायें बदलती रहती हैं। उसके वस्तुत्व गुणका कभी नाश नहीं होता।

इस सिद्धान्तके अनुसार शुद्धात्म-स्वरूपको प्राप्त हुए ज्ञानीजनोंने नीचे लिखी छः बातोंको सम्यग्दर्शनका सर्वोत्कृष्ट साधन बतलाया है।

प्रथम ही बतलाया है कि 'आत्मा है' अर्थात् घट-पटादिकी भाँति आत्मा भी है। जिस प्रकार किसी खास गुणके कारण घट-पटादिका अस्तित्व प्रमाण माना जाता है उसी प्रकार प्रत्यक्ष दिखाई पड़नेवाले स्वपर-प्रकाशक चैतन्यगुणके कारण आत्माका भी अस्तित्व प्रमाणभूत है।

दूसरे बतलाया है कि 'आत्मा नित्य है'। देखो; घट-पटादिक पदार्थ कुछ ही काल तक स्थिर रहनेवाले हैं और आत्मा सदा—तीनों काल—स्थिर रहनेवाला है। घट-पटादि संयोग-जन्य पदार्थ हैं और आत्मा स्वभावसिद्ध है। क्योंकि ऐसे कोई संयोग अनुभवमें नहीं आते जिनसे आत्माकी उत्पत्तिकी संभावना की जावे। किसी भी संयोगी द्रव्यसे चैतन्यसत्ताका उत्पन्न होना असंभव है, और इसी लिए वह अजन्मा—स्वभावसिद्ध—है। और इसी असंयोगीपनेके कारण वह अविनाशी है; क्योंकि जो संयोग-जन्य नहीं होता उसका कभी नाश भी नहीं होता।

तीसरी बात बतलाई है कि 'आत्मा कर्त्ता है'। संसारमें जितने पदार्थ हैं उन सबमें अर्थ-क्रियाकारित्व देखा जाता है अर्थात् उनमें कुछ-

न-कुछ परिणाम, क्रिया होती हुई दिखाई पड़ती है। आत्मा भी पदार्थ है, इस लिए मानना पड़ेगा कि वह भी अर्थ—क्रियाकारित्व—युक्त है। और इस अर्थ—क्रियाकारित्वके कारण ही उसे कर्त्ता कहा जाता है। श्री जिन भगवान्ने आत्माका कर्त्तृत्व तीन प्रकार बतलाया है। परमार्थ-दृष्टिसे तो वह अपने स्वभावका कर्त्ता है, इस लिए कि उसका अपने स्वभावमें ही परिणमन होता है; दूसरे अनुपचरित (अनुभवमें आने योग्य विशेष सम्बन्ध-रूप) व्यवहारनयसे कर्मोंका कर्त्ता है और उपचारसे गृह, नगर आदिका कर्त्ता है।

चौथे बतलाया है कि 'आत्मा भोक्ता है'। संसारमें जितनी क्रियायें होती हैं वे निष्फल-निरर्थक-नहीं होतीं। यह प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है कि जो जो किया जाता है, उसका

फल भोगनेमें अवश्य आता है। जिस प्रकार कि विष खानेसे मौत हो जाती है, शक्कर खानेसे मुँह मीठा हो जाता है, आगके छूनेसे हाथ जल जाता है और बर्फको छूनेसे ठंडाई जान पड़ने लगती है। मतलब यह कि क्रियाका फल हुए बिना नहीं रहता। इसी प्रकार आत्माके परिणाम कषाय-रूप या अकषाय-रूप—जैसे कुछ —होते हैं उनका फल भी अवश्य होता है। उन क्रियाओंका कर्त्ता होनेके कारण ही आत्मा भोक्ता है।

पाँचवें बतलाया है कि 'मोक्ष है'। जो अनुपचरित व्यवहारनयसे जीवको कर्मोंका कर्त्ता होनेके कारण ही भोक्ता बतलाया है उसी प्रकार उन कर्मोंकी निवृत्ति भी हो सकती है। यह देखा जाता है कि प्रत्यक्षमें कषायोंकी तीव्रता भी हो तो उनके छोड़नेका अभ्यास करनेसे—उनका

अपने आत्माके साथ सम्बन्ध न होने देनेसे-या उनका उपशम करनेसे वे मन्द पड़ जाती हैं; नष्ट होने योग्य हो जाती हैं और नष्ट हो सकती हैं। जितने बन्ध-भाव हैं वे सब नाश होने योग्य है। उन बन्ध-भावोंसे रहित शुद्ध आत्म-स्वभाव ही 'मोक्ष-पद' है।

छठे बतलाया है कि 'उस मोक्षका उपाय है'। जो यह हो कि जब कर्म-बंध निरन्तर होते ही रहते हैं तो फिर उनकी निवृत्ति भी किसी कालमें नहीं हो सकती। परन्तु ज्ञान, दर्शन, समाधि, वैराग्य, भक्ति आदि कितने ऐसे भी साधन प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं जिनका स्वभाव कर्म-बन्धसे विपरीत है; और जिनके द्वारा कर्म-बन्ध ढीला पड़ जाता है; उसका उपशम हो जाता है या क्षय हो जाता है। इसी कारण

समझना चाहिए कि ज्ञान, दर्शन, संयम आदि मोक्ष-पदके उपाय हैं।

भगवान्‌ने कहा है कि 'आत्मा है,' 'वह नित्य है,' 'कर्मोंका कर्त्ता है,' 'कर्मोंका भोक्ता है,' और 'उन कर्मोंसे निवृत्त हो सकता है,' तथा 'उनसे निवृत्त होनेके साधन हैं'। ये छः बातें विचार द्वारा जिसे सिद्ध हो जाती हैं-जिसे इनका ज्ञान हो जाता है-उसे 'विवेक-ज्ञान' या 'सम्यग्दर्शन' की प्राप्ति हो गई समझनी चाहिए। इन विषयोंका मुमुक्षुओंको विशेष करके अभ्यास करना चाहिए। कारण इन विषयोंके सम्बन्धमें विचार करनेका योग पूर्वजन्मके किसी विशेष अभ्यास या सत्पुरुषोंकी संगतिसे ही मिला करता है।

अनित्य पदार्थोंमें जो आत्माकी मोह-बुद्धि हो रही है उससे उसे अपने 'अस्तित्व,'

'नित्यत्व,' और 'अव्याबाध समाधि-सुख'का भान नहीं होता। उसकी मोह-बुद्धिके साथ इस प्रकारकी एकाग्रता चली आती है कि उस पर विचार करते घबरा कर उसे अपने विचारोंसे परावृत हो जाना पड़ता है। और इसी कारण पूर्वकालमें बहुत बार मोहग्रन्थिके नष्ट करनेका समय न आनेके पहले ही आत्माको अपने विचार छोड़ देना पड़े है। क्योंकि जिसका अनादि कालसे अभ्यास पड़ रहा है उसका, अत्यधिक पुरुषार्थ किये बिना थोड़े समयमें छोड़ा जाना अशक्य है। इस कारण बार बार सत्संग, सच्छास्त्रोंका अभ्यास, और सरल विचारोंके द्वारा इस विषयमें परिश्रम करना चाहिए, जिससे अन्तमें नित्य, शाश्वत और अनन्त सुखरूप 'आत्म-ज्ञान' होकर अपने स्वरूपका लाभ हो। इसमें जो पहले संशय

उत्पन्न होते हैं वे धैर्य और विचारसे शान्त पड़ जायँगे; और इस मार्गको छोड़ कर जो अधीरता और विपरीत कल्पनाका आश्रय लिया जायगा तो उससे आत्माको अपना हित-मार्ग त्याग देनेके लिए बाध्य होना पड़ेगा। और फिर इसका परिणाम यह होगा अनित्य पदार्थोंमें राग होनेके कारण आत्माको बार बार संसार-परिभ्रमण करते रहना पड़ेगा।

ज्ञानियोंने इन छः बातोंको सम्यग्दर्शनका मुख्य निवास-स्थान बतलाया है, जिनका ऊपर संक्षेपमें उल्लेख किया गया है। विचार करने पर निकट भव्य प्राणी—तद्भव मोक्षगामी—इनका स्वरूप सहज ही सप्रमाण समझ सकता है—इनका उसे परम निश्चय हो सकता है। इनका सब ओरसे विस्तार-पूर्वक विचार-मनन करके आत्मामें विवेक उत्पन्न करना चाहिए।

परम पुरुषोंने यह कहा है कि ये छः बातें अत्यन्त सन्देह-रहित हैं। इनका स्वरूप आत्माको अपने स्वरूपका ज्ञान करानेके लिए कहा है। ज्ञानी पुरुषोंने इनका उपदेश जीवके उस अहं-भाव—ममत्व-भाव—के दूर करनेके लिए किया है जो अनादि स्वप्न-दशाके कारण उसमें उत्पन्न हो रहा है। यदि जीवके ऐसे परिणाम हों कि इस स्वप्न-दशासे रहित मेरा स्वरूप है तो सहज ही वह जाग्रत होकर सम्यग्दर्शन लाभ कर सकता है। और फिर इसी सम्यग्दर्शनके द्वारा स्व-स्वभाव-रूप मोक्षको प्राप्त हो सकता है। फिर उसे विनाशीक, अशुद्ध तथा इसी प्रकारके अन्य भावोंमें हर्ष, शोक, संयोग आदि उत्पन्न नहीं होते। विचार करने पर उसे अपने ही स्वरूपमें शुद्धता, पूर्णता, अविनश्वरता, अत्यन्त आनन्दमयता और अंतररहितता

आदि स्वाभाविक गुणोंका अनुभव होने लगता है। उसे स्पष्ट—प्रत्यक्ष—अत्यन्त प्रत्यक्ष—अनुभव होता है कि सब विभाव-पर्यायोंमें जो एकता हो रही है वह मेरे ही अध्यास—परिणाम—से हुई है, वास्तवमें तो मैं उनसे सर्वथा भिन्न हूँ। विनाशीक तथा अन्य पदार्थोंके संयोगमें उसे इष्ट-अनिष्टपना नहीं होता। वह अपने स्वरूपको जन्म-जरा-मरण-रोग आदिसे रहित तथा सब माहात्म्यका स्थान जान कर, अनुभव कर, कृतार्थ हो जाता है। जिन जिन पुरुषोंको परम पुरुषोंके इन वचनों द्वारा कि ये छः बातें सप्रमाण हैं, आत्माका निश्चय हुआ है उन उन पुरुषोंने अवश्य आत्म-स्वरूप प्राप्त किया है। वे आधि-व्याधि-उपाधि-के सर्व-संगसे मुक्त हुए हैं, होते हैं और इसी प्रकार भविष्य कालमें भी होंगे।

जिन पुरुषोंने जन्म-जरा-मरणके क्षय करनेवाला और स्व-स्वरूपमें सहज स्थिति करानेवाला उपदेश किया है उन महा पुरुषोंके लिए अत्यन्त भक्ति-पूर्वक नमस्कार है। और जिनकी निष्कारण करुणाकी नित्यप्रति निरन्तर स्तुति करते रहनेसे आत्म-स्वरूप प्रगट होता है, वे सब सत्पुरुष तथा उनके चरण-कमल सदा मेरे हृदयमें विराजमान रहें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

यम नियम संयम आप कियो,
  पुनी त्याग बिराग अथाग लह्यो;
वनवास लह्यो मुख मौन रह्यो,
  द्रढ आसन पद्म लगाय दियो. १

मनपौन निरोध स्वबोध कियो,
  हठ जोग प्रयोग सु तार भयो;
जप भेद जपे तब त्योंही तपे,
  उरसेंहि उदासि लही सबपें. २

सब शास्त्रन के नय धारि हिये;
  मत मंडन खंडन भेद लिये;
वह साधन बार अनंत कियो,
  तदपी कछु हाथ हजू न पर्यो. ३

अब क्यों न बिचारत हैं मनसें,
  कछु ओर रहा उन साधनसें ?
बिन सद्गुरु कोय न भेद लहे,
  मुख आगल हैं कह बात कहे ? ४

करुना हम पावत हैं तुमकी,
  वह बात रही सुगुरु गमकी;
पलमें प्रकटे मुख आगलसें,
  जब सद्गुरुचर्नेसु प्रेम बसे. ५
तनसें, मनसें, धनसें सबसें,
  गुरु देवकी आन स्वआतम बसे;
तब कारज सिद्ध बने अपनो,
  रसअमृत पावही प्रेम घनो. ६
वह सत्यसुधा दरसाहि गे,
  चतुरागुल है द्रगसें मिलहे;
रसदेव निरंजन को पिवही,
  गहि जोग जुगो जुग सो जिवही. ७
परप्रेम प्रभाव बढे प्रभुसें,
  सब आगल भेद सु उरबसे;
वह केवलको बिज ग्यानि कहे,
  निजको अनुभव बतलाई दिये. ८

—सं० १९४७.

श्रीमद् राजचन्द्रप्रणीत

आत्मसिद्धि

जे स्वरूप समज्या विना, पाम्यो दुःख अनंत ।
समजाव्युं ते पद नमुं, श्री सद्गुरु भगवंत ॥ १ ॥

यत्स्वरूपमविज्ञाय प्राप्तं दुःखमनन्तकम् ।
तत्पदं ज्ञापितं येन तस्मै सद्गुरवे नमः ॥ १ ॥

अर्थात्—जिस आत्म-स्वरूपके समझे बिना जो मैंने भूत-कालमें अनन्त दुःख भोगे हैं उस स्वरूपका जिनने मुझे ज्ञान कराया, अर्थात् भविष्यकालमें जिन दुःखोंको मैं प्राप्त करता उनका मूल जिनने नष्ट कर दिया, उन सद्गुरु प्रभुको मेरा नमस्कार है ।

वर्त्तमान आ काळमां, मोक्षमार्ग बहु लोप ।
विचारवा आत्मार्थीने, भाख्यो अत्र अगोप्य ॥२॥

वर्तमाने कलौ प्रायो मोक्षमार्गस्य लुप्तता ।
सोऽत्राऽतो भाष्यते स्पष्टमात्मार्थिनां विचारणे ॥ २ ॥

अर्थात्—इस वर्तमान कालमें मोक्ष-मार्गका बहुत ही लोप हो गया है, उसी मार्गका (गुरु-शिष्यके संवाद-रूपसे) यहाँ स्वरूप कहा जाता है।

कोई क्रियाजड थई रह्या, शुष्क ज्ञानमां कोई।
माने मारग मोक्षनो, करुणा उपजे जोई ॥ ३ ॥

केचित् क्रियाजडा जाताः केचिद् ज्ञानजडा जनाः।
मन्वते मोक्षमार्गं तं दृष्ट्वाऽनुकम्पते मनः ॥ ३ ॥

अर्थात्—कितने केवल क्रिया-कांडमें ही लग रहे हैं और कितने केवल शुष्क-ज्ञानमें। और ऐसे लोग मोक्ष-मार्गका स्वरूप भी ऐसा ही मानते हैं। ऐसे लोगोंको देख कर दया आती है।

बाह्यक्रियामां राचता, अंतर्भेद न कांइ।
ज्ञानमार्ग निषेधता, तेह क्रियाजड आंहि ॥ ४ ॥

बाह्यक्रियासमासक्ता विवेकविकला नराः।
ज्ञानमार्गं निषेधन्तस्तेऽत्र क्रियाजडा मताः ॥ ४ ॥

अर्थात्—यहाँ पर 'क्रियाजड़' कहनेसे उन लोगोंसे मतलब है कि जो केवल बाह्य क्रियाओंमें ही रच-पच हो रहे हैं, आत्म-स्वरूपको कुछ नहीं जानते और ज्ञान-मार्गका निषेध करते हैं।

बंध, मोक्ष छे कल्पना, भाखे वाणीमांहि।
वर्त्ते मोहावेशमां, शुष्कज्ञानी ते आंहि॥ ५॥

'कल्पितौ बन्ध-मोक्षौ स्तः' इति वाग् यस्य केवलम्।
चरितं मोहनापूर्णं तेऽत्र ज्ञानजडा जनाः॥ ५॥

अर्थात्—और शुष्कज्ञानी वे लोग हैं जो केवल वचनों द्वारा बड़ी दृढ़ताके साथ कहा करते हैं कि बंध और मोक्ष यह मात्र कल्पना है; परन्तु ऐसी दशा उनकी अभी हुई नहीं है और उन पर मोहका प्रभाव खूब पड़ा हुआ है।

वैराग्यादि सफळ तो, जो सह आतमज्ञान।
तेम ज आतमज्ञाननी, प्राप्तितणां निदान॥ ६॥

वैराग्यादि तदाऽवन्ध्यं यद्यात्मज्ञानयोगयुक् ।
तथैव हेतुस्तच्चैव विवेकज्ञानप्राप्तये ॥ ६ ॥

अर्थात्—वैराग्य, त्याग आदि जितनी क्रियायें हैं वे तभी सफल हो सकती हैं जब कि उनके साथ साथ आत्म-ज्ञान भी हो—आत्मज्ञान होने पर ही ये सब मोक्षकी कारण हैं। और जहाँ आत्म-ज्ञान न हो; परन्तु आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिके लिए ये की जाती हों तो वहाँ आत्म-ज्ञान हीकी कारण हैं।

त्याग, विराग न चित्तमां, थाय न तेने ज्ञान ।
अटके त्याग विरागमां, तो भूले निजभान ॥ ७ ॥

यस्य चित्ते न त्यागादि न हि स ज्ञानवान् भवेत् ।
ये तु त्यागादिसंसक्ता निजतां विस्मरन्ति ते ॥ ७ ॥

अर्थात्—जिसके चित्तमें त्याग और वैराग्य आदि साधन उत्पन्न न हुए हों उसे आत्म-ज्ञान नहीं हो सकता; और जो केवल त्याग-वैराग्यादिमें

ही लगा रह कर आत्म-ज्ञानकी इच्छा नहीं करता उसे अपना भान नहीं रहता। तात्पर्य यह कि उसके त्याग-वैराग्य अज्ञान-पूर्वक होनेके कारण वह पूजा-सत्कार, मान-मर्यादा आदिसे पराजित होकर आत्मार्थको भुला बैठता है।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहां समजवुं तेह।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन एह ॥ ८ ॥

यद् यत्र वर्तते योग्यं तद् ज्ञेयं तत्र योगतः।
तत् तथैव समाचर्यमेतदात्मार्थिलक्षणम् ॥ ८ ॥

अर्थात्—आत्मार्थी—अपना कल्याण चाहनेवाले—पुरुषोंका यह लक्षण है कि जहाँ जहाँ जो जो बातें योग्य जान पड़े उन्हें वे समझें और आचरण करें।

सेवे सद्गुरुचरणने, त्यागी दई निजपक्ष।
पामे ते परमार्थने, निजपदनो ले लक्ष ॥ ९ ॥

यः श्रयेत् सद्गुरोः पादान् स्वाग्रहत्यागपूर्वकम्।
प्राप्नुयात् परमं तत्त्वं जानीयाद् निजतां ध्रुवम् ॥ ९ ॥

अर्थात्—जो अपना पक्ष छोड़ कर सद्गुरुके चरणोंकी सेवा करते हैं वे परमार्थको प्राप्त होते हैं और आत्म-स्वरूपका उन्हें भान होता है।

आत्मज्ञान, समदर्शिता, विचरे उदयप्रयोग।
अपूर्ववाणी, परमश्रुत, सद्गुरुलक्षण योग्य ॥१०॥

आत्मज्ञानी समानेक्षी उदयाद् गतियोगवान्।
अपूर्ववक्ता सद्ज्ञानी सद्गुरुरेव उच्यते ॥ १० ॥

अर्थात्—जो आत्म-ज्ञानमें स्थित हैं, पर-भावकी इच्छासे जो रहित हैं—पर-वस्तुओंमें जिनकी आसक्ति या मोह नहीं है, शत्रु-मित्र, हर्ष-शोक, नमस्कार-तिरस्कार आदिमें जिनके समान भाव हैं, केवल पूर्व-कृत कर्मोंके कारण जिनकी आहार-विहार आदिमें इच्छा होती है, जिनकी वचनशैली अज्ञानियोंसे प्रत्यक्ष भिन्न होती है और जो छहों दर्शनके आशयको अच्छी तरह समझे हुए होते हैं वे सच्चे सद्गुरु हैं या सद्गुरुके ये लक्षण हैं।

प्रत्यक्षसद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिनउपकार।
एवो लक्ष थया विना, उगे न आत्मविचार॥११॥

प्रत्यक्षसद्गुरुस्तुल्या परोक्षोपकृतिर्न हि।
अकृत्वैतादृशं लक्ष्यं नोद्गच्छेदात्मचारणम् ॥ ११ ॥

अर्थात्—जब तक जीवका लक्ष पूर्व-कालमें हुए जिन भगवानकी बातों पर ही रहता है और वह उन्हींका उपकार गाया करता है; परन्तु जिन सद्गुरुके समागमसे प्रत्यक्ष आत्म-भ्रान्तिका समाधान हो सकता है उनमें परोक्ष जिनभगवानके वचनोंकी अपेक्षा अधिक उपकार समाया हुआ है इस बातको जो नहीं जानता तब तक उसे आत्म-विचार उत्पन्न नहीं होता।

सद्गुरुना उपदेश वण, समजाय न जिनरूप।
समज्या वण उपकार शो? समज्ये जिनस्वरूप १२

विना सद्गुरुवाचं हि ज्ञायते न जिनात्मता।
ज्ञाने तु सुलभा सैवाऽज्ञाने उपकृतिः कथम्? ॥१२॥

अर्थात्—सद्गुरुके उपदेश बिना जिन भगवानका स्वरूप नहीं समझा जा सकता; और उनके स्वरूपको समझे बिना आत्माका उपकार नहीं हो सकता। जो सद्गुरुका उपदेश किया जिन भगवानका स्वरूप समझमें आवे तभी समझनेवालेका आत्मा परिणाममें जिन-सदृश दशाको प्राप्त हो सकता है।

आत्मादि अस्तित्वना, जेह निरूपक शास्त्र।
प्रत्यक्ष सद्गुरु-योग नहीं, त्यां आधार सुपात्र १३

यत्र प्रत्यक्षता नास्ति सद्गुरुत्तानपादिवा।
सत्पात्रे शरणं शास्त्रं तत्रात्मादिनिरूपकम् ॥ १३ ॥

अर्थात्—जो जिनागम आदि आत्मा तथा परलोकादिकके अस्तित्वका उपदेश करनेवाले हैं वे भी जहाँ सद्गुरुका समागम नहीं होता वहाँ सुपात्र—भव्य—प्राणिको आधार-रूप हैं; परन्तु सद्गुरुके सदृश भ्रांतिके नाश करनेवाले वे नहीं कहे जा सकते।

अथवा सद्गुरुए कह्यां, जे अवगाहन काज ।
ते ते नित्य विचारवां, करी मतांतर त्याज ॥१४॥

सद्गुरुणाऽथवा प्रोक्तं यद् यदात्महिताय तत् ।
नित्यं विचार्यतामन्तस्त्यक्त्वा पक्ष-मतान्तरम् ॥१४॥

अर्थात्—अथवा जो सद्गुरुने उन शास्त्रोंके पढ़नेकी आज्ञा दी हो तो मत-पक्षको—कुलधर्मके पुष्ट करने आदि-रूप भ्रांतिको—छोड़ कर केवल आत्म-हितके लिए उन्हें पढ़ना चाहिए ।

रोके जीव स्वछंद तो, पामे अवश्य मोक्ष ।
पाम्या एम अनंत छे, भाख्युं जिन निर्दोष ॥१५॥

रुन्धीत जीवः स्वातन्त्र्यं प्राप्नुयान्मुक्तिमेव तु ।
एवमनन्ताः संप्राप्ता उक्तमेतज्जिनेश्वरैः ॥ १५ ॥

अर्थात्—आत्मा अनादिकालसे अपनी समझको अच्छा जान कर अपनी ही इच्छाके अनुसार चलता आ रहा है । इस चलनेको 'स्वच्छन्दता' कहते हैं । यदि वह इस स्वच्छन्दताके रोकनेका यत्न करे तो

अवश्य मोक्षको प्राप्त हो सकता है। और वीतराग जिन प्रभुने, जिनमें राग-द्वेष-अज्ञान आदि एक भी दोषका नाम-निशान नहीं है, यह कहा है कि भूतकालमें इसी मार्गसे अनन्त जीव मोक्षको प्राप्त हुए हैं।

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगथी, स्वछंद ते रोकाय।
अन्य उपाय कर्या थकी, प्राये बमणो थाय॥१६॥

प्रत्यक्षसद्गुरुयोगात् स्वातन्त्र्यं रुध्यते तकत्।
अन्यैस्तु साधनोपायैः प्रायो द्विगुणमेव स्यात् १६

अर्थात्—स्वच्छन्दता सद्गुरुके समागमसे रोकी जाती है; और अपनी इच्छाके अनुसार चलनेसे तो वह बहुतसे उपाय करने पर भी उल्टी दुगुनी बढ़ जाती है।

स्वछंद, मत आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष।
समकित तेने भाखियुं, कारण गणी प्रत्यक्ष॥१७॥

वर्तनं सद्गुरुलक्ष्ये त्यक्त्वा स्वातन्त्र्यमात्मनः ।
मताग्रहं च, सम्यक्त्वमुक्तं प्रत्यक्षकारणात् ॥१७॥

अर्थात्—स्वच्छन्दता तथा अपने मतका आग्रह छोड़ कर जो सद्गुरुके उपदेशके अनुसार चलते हैं उस प्रवृत्तिको सम्यक्त्वका प्रत्यक्ष कारण गिन कर ही वीतराग प्रभुने 'सम्यक्त्व' कहा है ।

मानादिक शत्रू महा, निजछंदे न मराय ।
जातां सद्गुरुशरणमां, अल्प प्रयासे जाय ॥१८॥

स्वातन्त्र्यान्न हि हन्यन्ते महामानादिशत्रवः ।
सद्गुरोः शरणे प्राप्ते नाशस्तेषां सुसाधनः ॥ १८ ॥

अर्थात्—मान और पूजा-सत्कारादिका लोभ आदि (आत्माके) बड़े भारी शत्रु हैं । अपनी समझके अनुसार चलनेसे ये नष्ट नहीं हो सकते; और सद्गुरुकी शरण जानेसे साधारण प्रयत्नसे ही नष्ट हो जाते हैं ।

जे सद्गुरुउपदेशथी, पाम्यो केवळज्ञान ।
गुरु रह्या छद्मस्थ पण, विनय करे भगवान ॥१९॥

यत्सद्गुरूपदेशो यः प्रापद् ज्ञानमपश्चिमम् ।
छाद्मस्थ्येऽपि गुरोस्तस्य वैयावृत्त्यं करोति सः ॥१९

अर्थात्—जो सद्गुरुके उपदेशसे स्वयं तो केवलज्ञानको प्राप्त हो गये और उनके गुरु अब तक छद्मस्थ—अल्पज्ञानी—ही हैं तो भी जो केवलज्ञानी हुए हैं वे अपने छद्मस्थ गुरुकी वैयावृत्य—सेवा-शुश्रूषा—करते हैं ।

एवो मार्ग विनयतणो, भाख्यो श्रीवीतराग ।
मूळ हेतु ए मार्गनो, समजे कोई सुभाग्य ॥२०॥

विनयस्येदृशो मार्गो भाषितः श्रीजिनेश्वरैः ।
एतन्मार्गस्य मूलं तु कश्चिज्जानाति भाग्यवान् ॥२०॥

अर्थात्—जिन भगवानने विनयका मार्ग उक्त प्रकार कहा है । इस मार्गके मूल कारण आत्माका

इसके द्वारा क्या उपकार होता है, इस बातको कोई ही भाग्यशाली—बुद्धिमान—अथवा आराधक जीव समझ पाता है।

असद्गुरु ए विनयनो, लाभ लहे जो कांइ।
महामोहिनीकर्मथी, बुडे भवजळ मांहि ॥ २१ ॥

यद्यसद्गुरुरेतस्य किञ्चिल्लाभं लभेत तु।
महामोहवशान्मज्जेद् भवाम्भोधौ भयंकरे ॥ २१ ॥

अर्थात्—ऊपर जो विनयका मार्ग बतलाया गया है उसे अपने शिष्योंके द्वारा करानेकी इच्छा करके—अपना वैयावृत्य करानेकी इच्छासे—कोई कुगुरु अपनेमें सुगुरुकी कल्पना करे तो समझना चाहिए कि वह तीव्र मोहनीय कर्मका बन्ध कर भव-सागरमें डूबना चाहता है।

होय मुमुक्षु जीव ते, समजे एह विचार।
होय मतार्थी जीव ते, अवळो ले निर्धार ॥ २२ ॥

मुमुक्षुर्यदि जीवः स्याज्जानातीमां विचारणाम् ।
मतार्थी यदि जीवः स्याज्जानीयाद् विपरीतताम् ॥

अर्थात्—जो जीव मोक्षका इच्छुक होता है वह तो इस विनय-मार्गका विचार कर उसे समझ लेता है, और जो मताग्रही होता है वह उसका उल्टा निश्चय करता है। मतलब यह कि इस विनय-मार्गका उपयोग या तो वह शिष्यादिके पाससे अपनी सेवा-शुश्रूषा करानेमें करता है या कुगुरुमें सुगुरुका भ्रम करके उसका उपयोग करता है।

होय मतार्थी तेहने, थाय न आतमलक्ष ।
तेह मतार्थीलक्षणो, अहीं कह्यां निर्पक्ष ॥ २३ ॥

मतार्थी पुरुषो यः स्यान्नात्मान्वेषी स संभवेत् ।
तस्याऽत्र लक्षणं प्रोक्तं पक्षदोषविवर्जितम् ॥२३॥

अर्थात्—जो मताग्रही होता है उसका आत्मज्ञानकी ओर लक्ष नहीं रहता। ऐसे ही मताग्रही लोगोंके यहाँ पर पक्षपात रहित लक्षण कहे जाते हैं।

मतार्थीलक्षण

बाह्यत्याग पण ज्ञान नहीं, ते माने गुरु सत्य ।
अथवा निजकुळधर्मना, ते गुरुमां ज ममत्व ॥२४॥

ज्ञानहीनं गुरुं सत्यं बाह्यत्यागपरायणम् ।
मन्येत, वा ममत्वं वै कुलधर्मगुरौ धरेत् ॥ २४ ॥

अर्थात्—जो केवल बाह्यसे त्यागीसा दिखाई पड़ता हो, पर जिसे आत्म-ज्ञान न हो, तथा अन्तरंग त्याग भी न हो, ऐसे गुरुको जो सच्चा गुरु समझता है अथवा अपने कुल-धर्मके जैसे तैसे गुरुमें ही ममत्व-भाव रखता है;—

जे जिनदेहप्रमाणने, समवसरणादि सिद्धि ।
वर्णन समजे जिननुं, रोकि रहे निजबुद्धि ॥२५॥

जिनस्य ऋद्धिं देहादिमानं च जिनवर्णनम् ।
मनुते, स्वीयबुद्धिं यस्तत्रैवाऽभिनिविशते ॥ २५ ॥

अर्थात्—जो जिन भगवानके शरीरादिके वर्ण-

नको खास उन्हींका वर्णन समझता है, और उन्हें अपने कुल-परम्पराके देव होनेके कारण अहंभाव रूप कल्पित राग-वश उनके समवसरणादिका माहात्म्य गाता रह कर उसीमें अपनी बुद्धिको रोके रखता है; अर्थात् जिन भगवानका जो जानने योग्य परमार्थका कारण अन्तरंग स्वरूप है उसे नहीं जानता है और न उसके जाननेका ही प्रयत्न करता है तथा मात्र समवसरणादिमें ही जिन भगवानका स्वरूप बतला कर अपने मताग्रहमें (मस्त) रहता है;—

प्रत्यक्ष सद्गुरुयोगमां, वर्त्ते दृष्टि विमुख ।
असद्गुरुने दृढ करे, निजमानार्थे मुख्य ॥ २६ ॥

प्रत्यक्षसद्गुरोर्योगे कुर्याद् दृष्टिविमुखताम् ।
योऽसद्गुरुं दृढीकुर्यान्निजमानाय मुख्यतः ॥ २६ ॥

अर्थात्—कभी प्रत्यक्ष सद्गुरुका योग भी मिले तो उनकी दुराग्रहके नाश करनेवाली वाणीको सुन

कर उससे उल्टे चलता है, अर्थात् उनके हितकारी उपदेशको ग्रहण नहीं करता, और स्वयं सच्चे मुमुक्षु बननेके अभिमानके लिए कुगुरुके पास जाकर उनके प्रति अपनी बड़ी दृढ़ता जनाता है;—

देवादि गति भंगमां, जे समजे श्रुतज्ञान ।
माने निजमतवेषनो, आग्रह मुक्तिनिदान ॥२७॥

देवादिगतिभङ्गेषु जानीयाच्छ्रुतज्ञानताम् ।
मन्यते निजवेषं यो मुक्तिमार्गस्य कारणम् ॥ २७ ॥

अर्थात्—नरकादि गतिके 'भंग' (विकल्प) आदिका स्वरूप जो किसी विशेष परमार्थके कारण कहा गया है उसके मतलबको न समझ कर उस भंगजालको ही श्रुतज्ञान समझता है तथा अपने मतका वेष धारण करनेमें ही मुक्तिका कारण मानता है;—

लह्युं स्वरूप न वृत्तिनुं, ग्रह्युं व्रत अभिमान ।
ग्रहे नहीं परमार्थने, लेवा लौकिक मान ॥२८॥

अप्राप्ते लक्षणे वृत्तेर्वृत्तिमत्त्वाभिमानिता ।
परमार्थं न विन्देद् यो लोकपूजार्थमात्मनः ॥२८॥

अर्थात्—जो वृत्तिका (त्याग-वृत्तिका या व्रतका) स्वरूप तो समझता नहीं और यह अभिमान करता है कि मैं व्रती हूँ, और कभी परमार्थके उपदेशका योग मिल भी जाय तो संसारमें अपनी मान-मर्यादाके नष्ट हो जानेके भयसे अथवा यह समझ कर, कि वह पीछी न मिल सकेगी, परमार्थको ग्रहण नहीं करता;—

अथवा निश्चयनय ग्रहे, मात्र शब्दनी मांय ।
लोपे सद् व्यवहारने, साधनरहित थाय ॥ २९ ॥

यः शुष्कः शब्दमात्रेण मन्येत निश्चयं नयम् ।
सद्व्यवहारमालुम्पेद् गच्छेच्च हेतुहीनताम् ॥२९॥

अर्थात्—अथवा जो 'समयसार' या 'योगवासिष्ठ'के जैसे ग्रन्थोंको पढ़ कर केवल कहने (या दि-

खाने) के लिए निश्चय-नयको ग्रहण करता है; परन्तु जिसके अन्तरंगको वह गुण छूभी नहीं जाता; और सद्गुरु, सच्चे शास्त्र तथा वैराग्य-विवेकादि यथार्थ व्यवहारको नष्ट करता है और इसी तरह अपनेको ज्ञानी समझ कर साधन रहित आचरण करता है;—

ज्ञानदशा पामे नहीं, साधनदशा न कांइ ।
पामे तेनो संग जे, ते बुडे भवमांहि ॥ ३० ॥

ज्ञानावस्थां न यः प्राप्तस्तथा साधनसद्दशाम् ।
कुर्वाणस्तेन संगं ना ब्रुडेत् संसारसागरे ॥ ३० ॥

अर्थात्—ऐसा जीव ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता और इसी प्रकार वैराग्यादि साधनोंको प्राप्त नहीं कर पाता; और इसी कारण जो ऐसे जीवोंकी संगति करते हैं वे भी भवसागरमें डूब जाते हैं ।

ए पण जीव मतार्थमां, निजमानादि काज ।
पामे नहीं परमार्थने, अनअधिकारीमांज ॥ ३१ ॥

मतार्थी जीव एषोऽपि स्वीयमानादिहेतुना ।
प्राप्नुयान्न परं तत्त्वमनधिकारिकोटिगः ॥ २१ ॥

अर्थात्—ये जीव भी मतके पक्षपाती हैं; क्योंकि जिस प्रकार ऊपर कहे हुए जीवोंको कुल-धर्मादिका पक्षपात है उसी प्रकार ये ज्ञानी गिने जानेके मानकी इच्छासे अपने शुष्क मतका आग्रह करते हैं। इस लिए ये भी परमार्थको प्राप्त नहीं हो सकते; और इसी कारण फिर ये उन अनधिकारी जीवोंमें गिने जाने लगते हैं जिनमें कि ज्ञानका कुछ परिणाम नहीं होता।

नहीं कषाय उपशांतता, नहीं अंतर्वैराग्य ।
सरळपणुं न मध्यस्थता, ए मतार्थी दुर्भाग्य ॥२२॥

कषायोपशमो नैव नान्तर्विरक्तिमत् तथा ।
सरलत्वं न माध्यस्थ्यं तद् दौर्भाग्यं मतार्थिनः २२

अर्थात्—जिसकी क्रोध-मान-माया-लोभ आदि कषायें नहीं घटी हैं—मन्द नहीं पड़ी हैं, जिसके

अन्तरंगमें वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ है, जिसके आत्मामें गुण-ग्रहण-करने-रूप सरलता नहीं है, और इसी प्रकार जिसकी दृष्टि सत्यासत्यकी तुलना करनेके लिए पक्षपात रहित नहीं है वह मत-पक्ष-पाती जीव बड़ा ही अभागी है। अर्थात् उसका भाग्य ऐसा नहीं जो जन्म-जरा-मरणका नाश करने-वाले मोक्ष-मार्गको प्राप्त कर सके।

लक्षण कह्यां मतार्थीना, मतार्थ जावा काज।
हवे कहुं आत्मार्थीना, आत्म-अर्थ सुखसाज॥२३॥

मतार्थिलक्षणं प्रोक्तं मतार्थत्यागहेतवे।
आत्मार्थिलक्षणं वक्ष्येऽधुनाऽऽत्मसुखहेतवे॥२३॥

अर्थात्—इस प्रकार मताग्रही जीवके लक्षण कहे गये। ये इस लिए कहे गये कि इन्हें समझ कर अन्य जन अपना मताग्रह छोड़ सकें। अब आत्मार्थी-के लक्षण कहे जाते हैं। ये लक्षण आत्माके लिए अव्याबाध—विघ्न-बाधा-रहित—सुखके साधन हैं।

आत्मार्थीलक्षण

आत्मज्ञान त्यां मुनिपणुं ते साचा गुरु होय :
बाकी कुलगुरु कल्पना, आत्मार्थी नहि जोय ३४

आत्मज्ञानं भवेद् यत्र तत्रैव गुरुता मता ।
कुलगुरोः कल्पना ह्यन्या एवमात्मार्थिको मतः॥३४॥

अर्थात्—जहाँ आत्म-ज्ञान होता है वहाँ मुनि-पद होता है, आत्म-ज्ञानके बिना मुनिपद कभी नहीं हो सकता। आचारांग सूत्रमें कहा है कि "जं संमति पासह तं मोणंति पासह" अर्थात् जहाँ सम्यक्त्व—आत्म-ज्ञान—होता है वहीं मुनिपद होता है। मतलब यह है कि जिनमें आत्म-ज्ञान होता है वे ही सच्चे गुरु होते हैं; और जो आत्म-ज्ञानके न होने पर भी अपने कुलगुरुको सद्गुरु मानना है यह मात्र कल्पना है। आत्मार्थी जानता है कि इस कल्पना मात्रसे संसारका नाश नहीं हो सकता।

प्रत्यक्ष सद्गुरु प्राप्तिनो, गणे परम उपकार ।
त्रणे योग एकत्वथी, वर्त्ते आज्ञाधार ॥ ३५ ॥

प्रत्यक्षसद्गुरुप्राप्तेर्विन्देदुपकृतिं पराम् ।
योगत्रिकेन एकत्वाद् वर्तेताऽऽज्ञापरो गुरोः ॥३५॥

अर्थात्—आत्मार्थी जन सद्गुरुके लाभको बड़ा भारी उपकार समझते हैं। इस लिए कि जिन बातोंका शास्त्रादिके द्वारा समाधान नही हो सकता, और जो दोष सद्गुरुकी आज्ञा पाले बिना नहीं मिट सकते, सद्गुरुके समागमसे उन बातोंका (ठीक) समाधान हो जाता है और वे दोष भी मिट जाते हैं। इसी लिए आत्मार्थी जन प्रत्यक्ष सद्गुरुके समागमको बड़ा भारी उपकार मानते हैं और मन-वचन-कायसे उनकी आज्ञाके अनुसार चलते हैं।

एक होय त्रण कालमां, परमार्थनो पंथ ।
प्रेरे ते परमार्थने, ते व्यवहार समंत ॥ ३६ ॥

त्रिषु कालेषु एकः स्यात् परमार्थपथो ध्रुवम् ।
प्रेरयेत् परमार्थं तं ग्राह्यो व्यवहार आमतः ॥३६॥

अर्थात्—परमार्थ-मार्ग—मोक्ष-मार्ग—तीनों कालमें एक ही है; और जिस व्यवहारसे यह परमार्थ सिद्ध हो सके—प्राप्त किया जा सके—वही व्यवहार जीवोंको मानना चाहिए; अन्य नहीं।

एम विचारी अंतरे, शोधे सद्गुरुयोग ।
काम एक आत्मार्थनुं, बीजो नहीं मन रोग ३७

अन्तरेवं समालोच्य शोधयेत् सद्गुरोर्युजिम् ।
कार्यमात्मार्थमेकं तद् नापरा मानसी रुजा ॥३७॥

अर्थात्—इस प्रकार हृदयमें विचार कर सद्गुरुके समागमके लिए यत्न करना चाहिए; और मनमें केवल एक आत्म-हितकी इच्छा होनी चाहिए—मान-पूजादिक तथा रिद्धि-सिद्धि आदि किसी प्रकारकी इच्छा न होनी चाहिए—यह रोग है इसका न होना ही अच्छा है।

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्षअभिलाष।
भवे खेद, प्राणीदया, त्यां आत्मार्थनिवास ॥३८॥

उपशान्तिः कषायाणां निर्वाणे केवलं गृधिः।
भवे खेदो दया सत्त्वे तत्राऽऽत्मार्थत्वसंगतिः ॥३८॥

अर्थात्—उस जीवमें आत्म-हितकी स्थिति हो सकती है कि जिसकी कषायें मन्द पड़ गई हों, जिसे एक मोक्ष-पदके सिवा किसी अन्य-पदकी लालसा न हो और संसार पर जिसे दया हो।

दशा न एवी ज्यांसुधी, जीव लहे नहीं जोग।
मोक्षमार्ग पामे नहीं, मटे न अंतरोग ॥ ३९ ॥

एतादृशीं दशां यावद् योग्यां जीवो लभेत न।
मुक्तिमार्गं न प्राप्नोति तावच्चाऽस्यान्तरी रुजा ॥३९॥

अर्थात्—जीव जब तक इस प्रकारकी योगावस्था प्राप्त न करले तब तक उसे मोक्ष-मार्गकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती; और आत्म-भ्रान्ति-रूप

अनन्त दुःखका कारण अन्तरंग रोग भी नहीं मिट सकता।

आवे ज्यां एवी दशा, सद्गुरुबोध सुहाय।
ते बोधे सुविचारणा, त्यां प्रगटे सुखदाय ॥४०॥

स्यादीदृशी दशा यत्र सद्गुरुबोधपूर्विका।
सद्विचारः तयाऽऽविरस्यात् सुखदोऽदुःखदो नृणाम्

अर्थात्—ऐसी अवस्था होने पर ही सद्गुरुका उपदेश उपयोगी—कार्यकारी—हो सकता है; और इसी उपदेशसे परिमाणमें श्रेष्ठ विचार करनेकी योग्यता प्रकट होती है।

ज्यां प्रगटे सुविचारणा, त्यां प्रगटे निजज्ञान।
जे ज्ञाने क्षय मोह थई, पामे पद निर्वाण ॥४१॥

सद्विचारो भवेद् यत्र तत्राऽऽत्मत्वप्रकाशनम्।
तेन मोहं क्षयं नीत्वा प्राप्नुयान्निर्वृतिपदम् ॥ ४१ ॥

अर्थात्—और जहाँ श्रेष्ठ विचार करनेकी योग्यता प्रकट होती है वहीं आत्म-ज्ञान प्रकट होता

है; और इसी ज्ञानसे आत्मा मोहनीय कर्मका क्षय करके निर्वाण-लाभ करता है।

उपजे ते सुविचारणा, मोक्षमार्ग समजाय।
गुरु-शिष्यसंवादथी, भाखुं षट्पद आंहि ॥४२॥

संभवेत् सद्विचारो यैः सुज्ञानं मुक्तिवर्त्म च।
तानि वक्ष्ये पदानि षट् संवादे गुरु-शिष्ययोः ॥४२॥

अर्थात्—जिससे श्रेष्ठ विचार करनेकी योग्यता उत्पन्न हो सके और मोक्ष-मार्ग समझमें आ जाय वह विषय छह पदों द्वारा गुरु-शिष्यके संवादरूपसे कहा जाता है।

'आत्मा छे,' 'ते नित्य छे,' 'छे कर्त्ता निजकर्म'।
'छे भोक्ता,' वळी 'मोक्ष छे' 'मोक्षउपाय सुधर्म' ४३

जीवोऽस्ति स च नित्योऽस्ति कर्त्ताऽस्ति निजकर्मणः।
भोक्तास्ति च पुनर्मुक्तिर्मुक्त्युपायः सुदर्शनम् ॥४३॥

अर्थात्—'आत्मा है,' 'वह नित्य है,' 'अपने

कर्मोंका कर्त्ता है,' 'कर्मोंका भोक्ता है,' 'उससे मोक्ष होता है,' और 'वह मोक्षका उपाय सद्धर्म है'।

षट्स्थानक संक्षेपमां, षट्दर्शन पण तेह।
समजावा परमार्थने, कह्यां ज्ञानीए एह ॥ ४४ ॥

षट्स्थानीयं समासेन दर्शनानि षडुच्यते।
[षड्दर्शन्यपि उच्यते]
प्रोक्ता सा ज्ञानिभिर्ज्ञातुं परं तत्त्वं धरास्पृशाम् ॥ ४४ ॥

अर्थात्—ये जो छह स्थानक या छह पद यहाँ संक्षेपमें कहे गये हैं, विचार करनेसे जान पड़ेगा कि छह दर्शन भी ये ही हैं। इन छहों पदोंको ज्ञानी जनोंने परमार्थ समझानेके लिए कहा है।

शिष्यकी शंका

पहले स्थानकके सम्बन्धमें शिष्य कहता है—

नथी दृष्टिमां आवतो, नथी जणातुं रूप।
बीजो पण अनुभव नहीं, तेथी न जीवस्वरूप ४५

अदृश्यत्वादरूपित्वाज्जीवो नास्त्येव भेदभाक् ।
अनुभूतेरगम्यत्वान्नृशङ्कत्येव केवलम् ॥ ४५ ॥
[नृशङ्कत्येव भो गुरो !]

अर्थात्—जीव न दृष्टिमें आता है, न उसका कोई रूप ही दिखाई देता है, और न इसी प्रकारके अन्य अनुभवोंसे उसका ज्ञान होता है। इस लिए जान पड़ता है कि जीवका कोई स्वरूप नहीं है—जीव ही नहीं है।

अथवा देहज आतमा, अथवा इंद्रिय प्राण ।
मिथ्या जूदो मानवो, नहीं जूदुं एंधाण ॥ ४६ ॥

देह एव वा जीवोऽस्ति प्राणरूपोऽथवा स च ।
इन्द्रियात्मा तथा मान्यो नैवं भिन्नो ह्यलक्षणः ॥ ४६ ॥

अर्थात्—अथवा देह ही आत्मा है, इन्द्रियाँ ही आत्मा है, या श्वासोच्छ्वास ही आत्मा है। मतलब यह कि ये सब देह-रूप ही हैं। इस लिए आत्माको इनसे जुदा मानना मिथ्या है;—उसके

कोई ऐसे चिन्ह नहीं दिखाई पड़ते जिससे कि वह जुदा समझा जाय ।

वळी जो आत्मा होय तो, जणाय ते नहीं केम ?
जणाय जो ते होय तो, घट पट आदि जेम ॥४७॥

यदि स्याद् भेदवान् जीवोऽनुभूयेत कथं न हि ?
यदस्ति सकलं तत् तु ज्ञायते कच-काचवत् ॥४७॥

अर्थात्—और इतने पर भी यह आत्मा जुदा माना जाय तो फिर वह जाननेमें क्यों नहीं आता ? जिस भाँति घट-पट आदि पदार्थ हैं और वे जाने जाते हैं उसी भाँति यदि आत्मा है तो वह जाननेमें क्यों नहीं आता ?

माटे छे नहीं आतमा, मिथ्या मोक्षउपाय ।
ए अंतर्शंकातणो, समजावो सदुपाय ॥ ४८ ॥

अरेऽतो नैव आत्माऽस्ति ततो मुक्तिप्रथा वृथा ।
एनामाभ्यन्तरीं रेकामुत्कीलय प्रभो । प्रभो । ॥४८॥

अर्थात्—इस लिए यही कहना चाहिए कि आत्मा है ही नहीं, और जब आत्मा नहीं है तब उसके लिए मोक्ष-प्राप्तिका उपाय करना भी निष्फल है। हृदयकी इन शंकाओंके दूर करनेका कोई उत्तम उपाय हो तो मुझे समझाइए—इनका समाधान हो तो कृपा करके मुझे सन्तुष्ट कीजिए।

सद्गुरुका समाधान

इस पर सद्गुरुने कहा, हाँ, 'आत्मा है,' और वह इस प्रकार सिद्ध हो सकता है—

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देहसमान।
पण ते बन्ने भिन्न छे, प्रगटलक्षणे भान ॥ ४९ ॥

अध्यासाद् भासिता देह-देहिनोः समता, न सा।
तयोर्द्वयोः सुभिन्नत्वाल्लक्षणैः प्रकटैरहो। ॥ ४९ ॥

अर्थात्—अज्ञानके कारण जो अनादि कालसे देहका गाढ़ सम्बन्ध हो रहा है उससे तुझे आत्मा

देहके जैसा भासमान हो रहा है; परन्तु वास्तवमें आत्मा और देह दोनों ही जुदे जुदे हैं; क्योंकि दोनोंके लक्षण भिन्न भिन्न दिखाई पड़ते हैं।

भास्यो देहाध्यासथी, आत्मा देहसमान।
पण ते बन्ने भिन्न छे, जेम असि ने म्यान ॥५०॥

अध्यासाद् भासिता देह-देहिनोः समता, न सा।
तयोर्द्वयोः सुभिन्नत्वादसिकोशायते ध्रुवम् ॥ ५० ॥

अर्थात्—अज्ञानके कारण जो अनादि कालसे देहका गाढ़ सम्बन्ध हो रहा है उससे तुझे देह ही आत्माके जैसा भासमान हो रहा है; परन्तु जिस भाँति तलवार और म्यान एक म्यान-रूप जान पड़ने पर भी वास्तवमें दोनों ही भिन्न भिन्न हैं उसी भाँति आत्मा और देह भिन्न भिन्न हैं।

जे दृष्टा छे दृष्टिनो, जे जाणे छे रूप।
अबाध्य अनुभव जे रहे, ते छे जीवस्वरूप ॥५१॥

दृष्टेर्द्रष्टाऽस्ति यो वेत्ति, रूपं सर्वप्रकारगम् ।
आत्मऽबाध्याऽनुभूतिर्या साऽस्ति जीवस्वरूपिका ५१

अर्थात्—आँखें आत्माको नहीं देख सकतीं; किन्तु आत्मा ही आँखोंको देखता है और आँखें केवल स्थूल रूपको देख सकती हैं, किन्तु आत्मा स्थूल-सूक्ष्म आदि सबको जानता है। इसके सिवा इन्द्रिय-जन्य ज्ञानमें तो अन्य कारणोंसे रुकावट आ सकती है, परन्तु इसके ज्ञानमें कोई रुकावट नहीं पहुँचा सकता। अतएव यही ज्ञान या अनुभव आत्माका स्वरूप है।

छे इंद्रिय प्रत्येकने, निज निज विषयनुं ज्ञान।
पांच इंद्रिना विषयनुं, पण आत्माने भान॥५२॥

स्वस्वविषये संज्ञानं प्रतीन्द्रियं विभाति भोः।।
परं तु तेषां सर्वेषां जागर्ति मानमात्मनि ॥ ५२ ॥

अर्थात्—जो कानोंसे सुना जाता है उसका ज्ञान कानोंको होता है आँखोंको उसका ज्ञान नहीं

होता, इसी प्रकार आँखोसे देखी हुई वस्तुको कान नहीं देख सकते अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियको अपने ही अपने विषयका ज्ञान होता है, दूसरी इन्द्रियोंके विषयोंका ज्ञान नहीं होता; और आत्माको तो पाँचों ही इन्द्रियोंके विषयोंका ज्ञान होता है। मतलब यह कि पाँचों ही इन्द्रियोंके ग्रहण किए हुए विषयोंको जो जानता है वही आत्मा है। और जो यह कहा गया है कि आत्माके बिना एक इन्द्रिय एक एक विषयको ग्रहण करती है वह उपचारसे कहा है।

देह न जाणे तेहने, जाणे न इंद्रि प्राण।
आत्मानी सत्तावडे, तेह प्रवर्त्ते जाण॥ ५२॥

न तद् जानाति देहोऽयं नैव प्राणो न चेन्द्रियम्।
सत्तया देहिनो देहे तत्प्रवृत्तिं निबोध रे।॥ ५२॥

अर्थात्—आत्माको न देह जानता है, न इन्द्रियाँ जानती हैं और न श्वासोच्छ्वास ही जानते हैं; किन्तु ये सब ही उल्टे आत्माके सहयोगसे अपनी अपनी

प्रवृत्ति कर रहे हैं। समझो कि आत्माका यदि इनको सहयोग न मिले तो ये जड़ ही बन रहें।

सर्व अवस्थाने विषे, न्यारो सदा जणाय।
प्रगटरूप चैतन्यमय, ए एंधाण सदाय॥ ५४॥

योऽवस्थासु समस्तासु ज्ञायते भेदभाक् सदा।
चेतनतामयः स्पष्टः स ह्यात्मा नान्यलक्षणः॥५४॥

अर्थात्—आत्मा जाग्रत, स्वप्न और निद्रावस्थामें प्रवृत्ति करता हुआ भी इन अवस्थाओंसे जुदा रहता है; और इनसे भिन्न दशामें उसका अस्तित्व बना रहता है। वह इन अवस्थाओंका जाननेवाला प्रकट चैतन्य-स्वरूप है। मतलब यह कि जानना उसका प्रकट स्वभाव है और यह चिह्न उसमें सदा मौजूद रहता है—किसी समय इस चिह्नका उसमें नाश नहीं होता।

घट, पट आदि जाण तुं, तेथी तेने मान।
जाणनार ते मान नहीं, कहिये केवुं ज्ञान? ५५

घटादिसर्वं जानासि अतस्तन्मन्यसे शिशो ।।
तं न जानासि ज्ञातारं तद् ज्ञानं ब्रूहि कीदृशम् ॥५५॥

अर्थात्—तू स्वयं जिन घट-पट आदि पदार्थोंको जानता है तेरा विश्वास है कि वे हैं; परन्तु वास्तवमें जो उन घट-पटादिका जाननेवाला है उस पर तेरा विश्वास नहीं, तेरे इस ज्ञानको क्या कहा जाय?

परम बुद्धि कृष देहमां, स्थूल देह मति अल्प ।
देह होय जो आतमा, घटे न आम विकल्प ५६

कृशे देहे घना बुद्धिरघना स्थूलविग्रहे ।
स्याद् देहो यदि आत्मैव नैवं तु घटना भवेत् ॥५६॥

अर्थात्—दुबले-पेतल देहवालेकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण, और स्थूल देहवालेकी बुद्धि स्थूल देखनेमें आती है, सो यदि देह ही आत्मा होता तो इस प्रकारका विरोध दिखाई पड़नेका मौका न आता ।

जड चेतननो भिन्न छे, केवळ प्रगट स्वभाव ।
एकपणुं पामे नहीं, त्रणे काळ द्वयभाव ॥ ५७॥

केवलं भिन्न एवाऽस्ति स्वभावो जड-जीवयोः ।
कदापि न तयोरैक्यं द्वैतं कालत्रिके तयोः ॥ ५७ ॥

अर्थात्—जिस वस्तुमें कभी जाननेकी शक्ति या स्वभाव नहीं होता वह जड़ है और जानना जिसका सदा स्वभाव है वह चैतन्य है। इस प्रकार जड़ और चैतन्य दोनोंका भिन्न भिन्न स्वभाव है; और वह स्वभाव कभी एक न होगा। दोनोंकी भिन्नता इस बातसे अनुभवमें आती है कि तीनों कालमें जड़ जड़ बना रहेगा और चैतन्य चैतन्य।

आत्मानी शंका करे, आत्मा पोते आप।
शंकानो करनार ते, अचरज एह अमाप॥५८॥

आत्मानं शङ्कते आत्मा स्वयमज्ञानतो ध्रुवम् ।
यः शङ्कते स वै आत्मा स्वेनाऽहो। स्वीयशङ्कनम् ५८

अर्थात्—आत्मा आत्माके ही सम्बन्धमें जो शंका करता है आश्चर्य है कि वह नहीं जानता कि यह शंका करनेवाला ही स्वयं आत्मा है।

शिष्यकी शंका

शिष्य कहता है कि 'आत्मा नित्य नहीं है'—

आत्माना अस्तित्वना, आपे कह्या प्रकार ।
संभव तेनो थाय छे, अंतर कर्ये विचार ॥ ५९ ॥

शिष्ये भगवता प्रोक्ता आत्माऽस्तित्वस्य युक्तयः ।
ततः संभवनं तस्य ज्ञायतेऽन्तर्विचारणात् ॥ ५९ ॥

अर्थात्—आत्माके अस्तित्वके सम्बन्धमें आपने जो जो बातें समझाईं उन पर हृदयमें विचार करनेसे यह तो संभव होता है कि आत्मा है;—

बीजी शंका थाय त्यां, आत्मा नहीं अविनाश ।
देहयोगथी ऊपजे, देहवियोगे नाश ॥ ६० ॥

तथाऽपि तत्र शङ्काऽऽत्मा नश्वरः, नाऽविनश्वरः ।
देहसंयोगजन्माऽस्ति देहनाशात् तु नाशभाक् ६०

अर्थात्—परन्तु साथ ही यह शंका होती है कि आत्माके होने पर भी वह अविनाशी—नित्य—नहीं

है। वह तीनों कालमें रहनेवाली वस्तु नहीं है; किन्तु शरीरके संयोगसे उत्पन्न होता है और शरीरके नाशके साथ ही नष्ट हो जाता है।

अथवा वस्तु क्षणिक छे, क्षणे क्षणे पलटाय।
ए अनुभवथी पण नहीं, आत्मा नित्य जणाय ६१

अथवा क्षणिकं वस्तु परिणामि प्रतिक्षणम्।
तदनुभवगम्यत्वान्नाऽऽत्मा नित्योऽनुभूयते ॥ ६१ ॥

अर्थात्—अथवा वस्तुयें जो क्षण क्षणमें बदलती हुई देखी जाती हैं इससे सिद्ध है कि सब वस्तुयें क्षणिक हैं और इसी अनुभवसे यह बात जानी जाती है कि आत्मा नहीं है।

सद्गुरुका समाधान

गुरु कहते हैं कि 'आत्मा नित्य है'; और वह इस तरह सिद्ध है—

देह मात्र संयोग छे, वळी जड, रूपी, दृश्य ।
चेतननां उत्पत्तिलय, कोना अनुभव वश्य? ६२

देहमात्रं तु संयोगि दृश्यं रूपि जडं घनम् ।
जीवोत्पत्ति-लयावत्र नीतौ केनाऽनुभूतिताम् ? ॥ ६२॥

अर्थात्—देह मात्र परमाणुओंके संयोगसे बना है और संयोग-सम्बन्धसे आत्माके साथ इसका संयोग हो रहा है। देह जड़ है, रूपी है और दृश्य रूप है, अर्थात् किसी द्रष्टाके जाननेका विषय है—यह स्वयं अपने आपको भी नहीं जान सकता तब चैतन्यकी उत्पत्ति और नाशको तो जान ही कैसे सकता है? देहके एक एक परमाणुका विचार करनेसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि देह जड़ ही है। तब जड़ देहसे चैतन्यका उत्पन्न होना कभी संभव नहीं। उसी प्रकार नष्ट होकर उसका देहके साथ मिल जाना भी संभव नहीं। और देह रूपी—स्थूल—है; और चैतन्य अरूपी, सूक्ष्म और द्रष्टा है तब

देहसे चैतन्यकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है तथा नाश होकर उसके साथ मिल भी कैसे सकता है? अच्छा यह बतलाओ कि यदि देहसे चैतन्य उत्पन्न होता है और देहके नाशके साथ ही चैतन्यका नाश हो जाता है, तो इस बातका अनुभव कौन करता है अर्थात् इस प्रकारका ज्ञान किसको होता है? क्योंकि ज्ञाता चैतन्यकी उत्पत्ति देहसे पहले तो होती नहीं और नाश उसके पहले हो जाता है तब यह अनुभव किसे होता है?

जेना अनुभव वश्य ए, उत्पन्न, लयनुं ज्ञान।
ते तेथी जूदाविना, थाय न केमें भान॥ ६३॥

उत्पत्ति-लयबोधौ तु यस्यानुभववर्तिनौ।
स ततो भिन्न एव स्यान्नान्यथा बोधनं तयोः॥ ६३॥

अर्थात्—जिस देहकी उत्पत्ति और नाशका ज्ञान चैतन्यके अनुभवमें आता है वह जड़ देह चैतन्यसे भिन्न है। ऐसा हुए बिना उसका ज्ञान

होना संभव नहीं। अर्थात् नाश और उत्पत्ति जड़ देहकी होती है, चैतन्यकी उत्पत्ति और नाश नहीं होता।

जे संयोगो देखिये, ते ते अनुभवदृश्य।
उपजे नहीं संयोगथी, आत्मा नित्य प्रत्यक्ष ॥६४॥

दृश्यन्ते ये तु संयोगा ज्ञायन्ते ते सदात्मना।
नाऽत्मा संयोगजन्योऽतः किन्त्वात्मा शाश्वतः स्फुटम्

अर्थात्—जो जो संयोग देखे जाते हैं वे सब अनुभव-स्वरूप आत्माके दृश्य हैं—आत्मा उनको जानता है। और संयोगके स्वरूपका विचार करनेसे ऐसा कोई संयोग दिखाई नहीं पड़ता कि जिससे आत्मा उत्पन्न हो सकता हो। इस लिए यह निश्चित है कि आत्मा संयोगसे उत्पन्न हुआ नहीं है—असंयोगी है। और वह स्वाभाविक पदार्थ है, इस लिए प्रत्यक्ष नित्य जान पड़ता है।

जडथी चेतन ऊपजे, चेतनथी जड थाय ।
एवो अनुभव कोइने, क्यारे कदी न थाय ॥६५॥

जडादुत्पद्यते जीवो जीवादुत्पद्यते जडम् ।
एषाऽनुभूतिः कस्यापि कदापि क्वाऽपि नैव रे ! ॥६५॥

अर्थात्—ऐसा अनुभव कभी किसीको नहीं हुआ कि चैतन्यसे जड़ और जड़से चैतन्य उत्पन्न होता है ।

कोई संयोगोथी नहीं, जेनी उत्पत्ति थाय ।
नाश न तेनो कोईमां, तेथी नित्य सदाय ॥ ६६ ॥

यस्योत्पत्तिस्तु केभ्योऽपि संयोगेभ्यो न जायते ।
न नाशः संभवेत् तस्य जीवोऽतो ध्रुवति ध्रुवम् ॥ ६६ ॥

अर्थात्—जिसकी उत्पत्ति किसी भी संयोगसे नहीं होती उसका नाश भी किसी अन्य पदार्थमें नहीं होता । इस लिए आत्मा त्रिकाल नित्य है ।

क्रोधादि तरतम्यता, सर्पादिकनी मांय ।
पूर्वजन्मसंस्कार ते, जीवनित्यता त्यांय ॥ ६७ ॥

क्रोधादितारतम्यं यत् सर्प-सिंहादिजन्तुषु ।
पूर्वजन्मजसंस्काराद् तत् ततो जीवनित्यता ॥६७॥

अर्थात्—सर्प आदि प्राणियोंमें क्रोधादि प्रकृतियोंकी विशेषता जन्मसे ही देखी जाती है। वर्तमान देहने उनका कोई अभ्यास नहीं किया है। वे प्रकृतियाँ जन्मसे ही उनके साथ रहती हैं। यह पूर्व जन्मका संस्कार है; और यह पूर्व जन्म ही जीवकी नित्यता सिद्ध करता है।

आत्मा द्रव्ये नित्य छे, पर्याये पलटाय ।
बाळादि वय त्रण्यनुं, ज्ञान एकने थाय ॥ ६८ ॥

आत्माऽस्ति द्रव्यतो नित्यः पर्यायैः परिणामभाक् ।
बालादिवयसो ज्ञानं यस्मादेकस्य जायते ॥ ६८ ॥

अर्थात्—जिस प्रकार समुद्रमें कोई परिवर्तन नहीं होता; किन्तु जो लहरें आती-जाती रहती हैं उनमें परिवर्तन होता रहता है, उसी प्रकार द्रव्यकी

अपेक्षा आत्मा नित्य है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता; किन्तु समय समय जो उसके ज्ञानका परिणमन होता रहता है उससे उसका पर्यायपरिवर्तन होता रहता है। बालक-युवा-वृद्ध ये तीन अवस्थायें आत्माकी विभाव पर्यायें हैं। बालकपनमें आत्मा बालक समझा जाता है, जब वह बालकपनको छोड़ युवावस्था धारण करता है, तब युवा कहा जाता है; और इसी प्रकार जब युवावस्था छोड़ कर वृद्धावस्था धारण करता है तब वृद्ध कहा जाता है। इन तीनों अवस्थाओंमें जो भेद हुआ वह पर्याय-भेद है इससे आत्मामें भेद हुआ न समझना चाहिए। मतलब यह कि परिवर्तन अवस्थाका हुआ है, आत्माका नहीं। आत्मा इन तीनों अवस्थाओंको जानता है और तीनों अवस्थाओंकी उसे ही स्मृति है; और यह बात तभी बन सकती है जब कि आत्मा तीनों अवस्थाओंमें एक हो। और जो वह क्षण क्षणमें

बदलता रहता हो तब तो ऐसा अनुभव हो ही नहीं सकता।

अथवा ज्ञान क्षणिकनुं, जे जाणी वदनार।
वदनारो ते क्षणिक नहीं, कर अनुभव निर्धार ६९

क्षणिकं वस्त्विति ज्ञात्वा यः क्षणिकं वदेदहो!।
स वक्ता क्षणिको नाऽस्ति तदनुभवनिश्चितम्॥६९॥

अर्थात्—जो यह जानता है कि अमुक पदार्थ क्षणिक है और इसी प्रकार कहता है वह जानने और कहनेवाला क्षणिक नहीं हो सकता। कारण पहले क्षणमें हुआ अनुभव ही दूसरे क्षणमें कहा जा सकता है; और यदि दूसरे क्षणमें वह स्वयं ही न हो तो उसे वह अनुभव कैसे बना रह सकता है? इस अनुभवसे भी आत्माकी नित्यता निश्चय करना चाहिए।

क्यारे कोई वस्तुनो, केवळ होय न नाश।
चेतन पामे नाश तो, केमां भळे तपास?॥७०॥

कदाऽपि कस्यचिन्नाशो वस्तुनो नैव केवलम् ।
चेतना नश्यति चेत् तु किंरूपः स्याद् गवेषय ? ७०

अर्थात्—वस्तुका सर्वथा नाश किसी भी कालमें नहीं होता, मात्र अवस्थान्तर होता है। इस प्रकार चैतन्यका भी सर्वथा नाश नहीं हो सकता। और अवस्थान्तर रूप नाश होता हो तो इस बातका शोध करो कि वह किसमें मिल जाता है अथवा किस प्रकारका उसका अवस्थान्तर होता है। घड़ेके फूट जाने पर लोग कहते हैं कि घड़ा नष्ट हो गया; परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो घट-पर्याय नष्ट हुई है, उसके मिट्टीपनेका नाश नहीं हुआ है। मिट्टी धूलके रूपमें परिणत हो जाय तो भी वह परमाणु-रूपमें बनी रहेगी। उसका सर्वथा नाश नहीं हो सकता। और न उसका एक परमाणु ही कम हो सकता है। अनुभवके साथ विचार करने पर यह

तो जान पड़ेगा कि वस्तुका अवस्थान्तर तो हो सकता है, परन्तु यह कभी नहीं देख पड़ेगा कि उसका सर्वथा नाश हो जाता हो। मतलब यह कि तुम चैतन्यका नाश कह कर यह नहीं कह सकते कि उसका सर्वथा नाश हो जाता है। हाँ, अवस्थान्तर-रूप नाश कह सकते हो।

अच्छा, अब यह देखो कि जैसे घड़ा फूट कर वह क्रम क्रमसे परमाणुओंके रूपमें परिणत हो जाता है वैसे ही चैतन्यका अवस्थान्तर-रूप नाश तुम्हें कहना हो तो उसे किस स्थितिमें कहोगे, अथवा घड़ेके परमाणु जैसे अन्य परमाणुओंमें मिल जाते हैं वैसे ही चैतन्य किस वस्तुमें मिलने योग्य है। मतलब यह कि इस प्रकारका अनुभव करके तुम देखोगे तो तुम्हें जान पड़ेगा कि आत्मा न तो किसीमें मिलने योग्य है और न पर-वस्तु-स्वरूपमें अवस्थान्तर होने योग्य है।

शिष्यकी शंका

शिष्य कहता है कि 'आत्मा कर्मोंका कर्त्ता नहीं है'; और वह इस तरह सिद्ध किया जा सकता है—

कर्त्ता जीव न कर्मनो, कर्म ज कर्ता कर्म ।
अथवा सहज स्वभाव कां, कर्म जीवनो धर्म ७१

आत्मा नो कर्मणः कर्ता कर्मकर्ताऽस्ति कर्म वै ।
वा सहजः स्वभावः स्यात् कर्मणो जीवधर्मता ७१

अर्थात्—जीव कर्मोंका कर्त्ता नहीं है, कर्म अपने आप ही अपने कर्त्ता हैं अथवा वे अनायास ही होते रहते हैं। इस पर तुम कहो कि ऐसा नहीं है; किन्तु जीव ही कर्मोंका कर्त्ता है। तब तो फिर कर्म करना जीवका धर्म-स्वभाव-ही है और जब वह जीवका स्वभाव ठहर गया तब कभी जीवसे अलग भी नहीं हो सकता।

आत्मा सदा असंग ने, करे प्रकृति बंध ।
अथवा ईश्वर प्रेरणा, तेथी जीव अबंध ॥ ७२ ॥

स्यादसंगः सदा जीवो बन्धो वा प्राकृतो भवेत् ।
चेश्वरप्रेरणा तत्र ततो जीवो न बन्धकः ॥ ७२ ॥

अर्थात्—अथवा ऐसा न कहो तो यों कहो कि आत्मा सदा निःसंग है और सत्त्व आदि गुण-युक्त प्रकृतियाँ कर्मोंका बंध करती हैं । इस बातको भी स्वीकार न करो तो यह कहो कि जीवको कर्म करनेके लिए ईश्वर प्रेरणा करता है और इस लिए कर्म करना ईश्वरकी इच्छा पर निर्भर रहनेसे जीव फिर कर्म-बन्धसे निर्मुक्त ही है ।

माटे मोक्ष-उपायनो, कोई न हेतु जणाय ।
कर्मतणुं कर्तापणुं, कां नहीं, कां नहीं जाय ? ॥७३॥

ततः केनाऽपि हेतुना मोक्षोपायो न गम्यते ।
जीवे कर्मविधातृत्वं नास्त्यस्ति चेन्न नश्यताम् ७३

अर्थात्—इन बातोंसे जीव किसी प्रकार कर्मोंका कर्त्ता नहीं हो सकता; और न तब मोक्ष-प्राप्तिके लिए प्रयत्न करना ही सकारणक जान पड़ता है; क्योंकि जीवमें कर्म-कर्तृत्व नहीं बनता। और जो मान लिया जाय तो फिर वह उसका स्वभाव ठहर जाता है और स्वभाव मान लेनेसे जीवसे फिर कभी छूट न सकेगा।

सद्गुरुका समाधान

सुगुरु इस बातको बतलाते हैं कि 'आत्मा कर्मोंका कर्त्ता' किस प्रकार है—

होय न चेतनप्रेरणा, कोण ग्रहे तो कर्म?
जडस्वभाव नहीं प्रेरणा, जुओ विचारी मर्म ७४

चेतनप्रेरणा न स्यादादद्यात् कर्म कः खलु।
प्रेरणा जडजा नाऽस्ति वस्तुधर्मो विचार्यताम् ॥७४॥

अर्थात्—चैतन्य आत्माकी प्रेरणा-रूप प्रवृत्ति न हो तो कर्मोंको ग्रहण कौन करे; क्योंकि जड़का

स्वभाव प्रेरणा करना नहीं है। यह बात जड़ और चैतन्यके धर्मोंका विचार करने पर स्पष्ट ध्यानमें आ सकती है।

समर्थन—जो चैतन्यकी प्रेरणा न हो तो कर्मोंको ग्रहण करेगा कौन? क्योंकि प्रेरणा करके ग्रहण कराने रूप स्वभाव जड़ वस्तुका है ही नहीं। और यदि ऐसा हो तो फिर घट-पट आदि वस्तुओंमें भी क्रोधादि भाव तथा कर्मोंका ग्रहण करना होना चाहिए। परन्तु ऐसा अनुभव तो आज तक किसीको भी नहीं हुआ। इससे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि चैतन्य जीव ही कर्मोंको ग्रहण करता है; और इसी लिए उसे कर्मोंका कर्त्ता कहा जाता है अर्थात् इस प्रकार जीव कर्मोंका कर्त्ता सिद्ध होता है। तुमने जो यह पूछा कि कर्मोंका कर्त्ता कर्मको कहना चाहिए या नहीं सो इसका भी समाधान इस उत्तरसे हो जायगा कि जड़ कर्मोंमें प्रेरणा-रूप धर्मके

न होनेसे उनमें चैतन्यकी भाँति कर्मोंके ग्रहण करनेकी सामर्थ्य नहीं है। और कर्मोंका कर्त्तापना जीवमें इस लिए है कि उसमें प्रेरणा-शक्ति है।

जो चेतन करतुं नथी, थतां नथी तो कर्म।
तेथी सहज स्वभाव नहीं, तेम ज नहीं जीवधर्म ७५

यदि जीवक्रिया न स्यात् संग्रहो नैव कर्मणः।
अतो न सहजो भावो नैव वा जीवधर्मता ॥७५॥

अर्थात्—आत्मा जो कर्म नहीं करता तो वे होते नहीं, इस लिए यह कहना ठीक नहीं है कि कर्म अनायास-स्वभाव-से ही होते रहते हैं। और न यह कहना ही ठीक है कि आत्मा कर्म-कर्त्ता है इस लिए वह उसका स्वभाव है; क्योंकि स्वभावका कभी नाश नहीं होता। और जो यह कहा गया कि आत्मा कर्म न करता तो कर्म होते नहीं, इससे यह भी सिद्ध होता है कि कर्म-भाव आत्मासे दूर भी

हो सकते हैं, इस लिए कि वह उसका स्वाभाविक धर्म नहीं है।

समर्थन—अब, तुमने जो यह कहा कि कर्म अनायास ही होते रहते हैं, इस पर विचार करते हैं कि अनायास कहनेसे तुम्हारा मतलब क्या है? क्या आत्माके बिना विचार किये ही हो गये? या आत्माका कुछ कर्तृत्व न रहने पर भी जो हो गये? अथवा ईश्वर वगैरह द्वारा कर्म चिपका देने पर अपने आप हो गये? या प्रकृतिके बलात्कार से हो गये? इस प्रकार मुख्य चार विकल्पोंसे अनायास-कर्तृत्त्वका विचार करना आवश्यक है। इनमें पहला विकल्प है 'आत्माके बिना विचारे हो गये।' जो ऐसा हो तो कर्मका ग्रहण करना बन ही नहीं सकता, और जहाँ कर्मका ग्रहण करना नहीं वहाँ कर्मका अस्तित्व भी संभव नहीं। और यह बात तो प्रकट अनुभवमें आती है कि जीव प्रत्यक्ष चिन्तन

करता है, ग्रहण करता है और छोड़ता है। आत्मा यदि क्रोधादिक भावोंमें किसी प्रकार भी प्रवृत्त न होनेको सयत्न रहे तो वे उसमें उत्पन्न हो ही नहीं सकते। इससे यह जाना जाता है कि आत्माके विचार किये बिना अथवा आत्माने जिन्हें न किया हो ऐसे कर्मोंका ग्रहण आत्माके द्वारा हो ही नहीं सकता। मतलब यह कि इन दोनों रीतियोंसे कर्मोंका अनायास ग्रहण सिद्ध नहीं हो सकता।

केवळ होत असंग जो, भासत तने न केम?
असंग छे परमार्थथी, पण निजभाने तेम ॥७६॥

यदि स्यात् केवलोऽसङ्गः कथं भासेत न त्वयि?।
तत्त्वतोऽसंग एवाऽस्ति किंतु तन्निजबोधने ॥ ७६ ॥

अर्थात्—आत्मा जो सर्वथा निस्संग होता—कभी कर्म-कर्तृत्व उसमें न होता—तो तुम्हें आत्मा पहले क्यों नहीं भास गया? परमार्थ दृष्टिसे हाँ सचमुच

ही आत्मा निस्संग है, परन्तु वह बात तो तब हो सकती है जब कि उसे अपने स्वरूपका भान हो जाय।

कर्ता ईश्वर कोई नहीं, ईश्वर शुद्ध स्वभाव।
अथवा प्रेरक ते गण्ये, ईश्वर दोषप्रभाव ॥ ७७॥

नेश्वरः कोऽपि कर्ताऽस्ति स वै शुद्धस्वभावभाक्।
यदि वा प्रेरके तत्र मते दोषप्रसक्तता ॥ ७७ ॥

अर्थात्—जगत्का या जीवोंका कर्त्ता कोई ईश्वर भी नहीं है; क्योंकि ईश्वर वह है जिसका आत्म-स्वभाव शुद्ध हो गया है। और यदि उसे प्रेरक-रूपसे कर्मोंका कर्त्ता कहो तो उसके शुद्ध स्वभावमें दोष आवेगा। इस कारण जीवके कर्म करनेमें ईश्व-रकी प्रेरणा भी नहीं मानी जा सकती।

समर्थन—तीसरे कहा गया कि ईश्वर वगैरह कोई जीवके कर्म चिपका देते हैं, इस लिए वे अना-यास होते हैं, सो यह भी कहना ठीक नहीं है।

यद्यपि ऐसी दशामें पहले ईश्वरके स्वरूपका निश्चय करना उचित है और इस प्रसंग पर तो और भी विशेष उचित है तथापि यहाँ किसी ईश्वर या विष्णु आदिको किसी तरह कर्त्ता स्वीकार कर उस पर विचार करते हैं। जो ईश्वर आदि कोई कर्मोंके विपका देनेवाला हो तो फिर जीव पदार्थ कोई नहीं ठहरेगा; क्योंकि प्रेरणा आदि धर्म—स्वभाव—के धारक जीवका फिर अस्तित्व ही समझमें नहीं आता। ये धर्म तो फिर ईश्वरकृत ठहरते हैं—ईश्वरके गुण हो जाते हैं। तब फिर जीवका शेष स्वरूप रह ही क्या जाता है कि जिससे उसे जीव या आत्मा कहा जाय? इस लिए यही कहना ठीक है कि कर्म ईश्वर-प्रेरित नहीं हैं, किन्तु स्वयं जीवके ही किये हुए हैं। इसी प्रकार चौथा विकल्प है 'प्रकृतिके बलात्कार से कर्म अनायास होते हैं' सो यह भी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि जीवके प्रकृति आदि जड़ हैं, उसे आत्मा

ग्रहण न करे तो वह किस तरह पीछे पड़ सकनेमें समर्थ हो सकती है?

यह कहो कि द्रव्य-कर्महीका नाम तो प्रकृति है, इस लिए कर्मोंका कर्त्ता कर्महीको कहना चाहिए, सो इसका निषेध पहले किया ही जा चुका है। यह कहो कि प्रकृति नहीं तो मन आदि जो कर्मोंको ग्रहण करते हैं उससे आत्मामें कर्त्तापना सिद्ध होता है, सो यह भी सर्वथा सिद्ध नहीं हो सकता। कारण ये मन आदि चैतन्यकी प्रेरणाके बिना मन रूपसे ठहर ही नहीं सकते। आत्मा जो मनन करनेके लिए जिन कर्मवर्गणाओंका अवलम्बन लेता है वे मन है। जो आत्मा मनन न करे तो मनन करनेका धर्म—स्वभाव—कोई वर्गणाओंमें थोड़े ही है? वे तो सर्वथा जड़ हैं। आत्मा चैतन्यकी प्रेरणासे उन वर्गणाओंका अवलंबन—सहारा—लेकर ही कर्म ग्रहण करता है, इसी लिए उसमें कर्त्तापनेका आरोप

किया जाता है; परन्तु प्रधानतासे चैतन्य ही कर्मोंका कर्त्ता है। वेदान्त-दृष्टिसे तुम यदि इस पर विचार करोगे तो तुम्हें यह कथन एक भ्रान्त पुरुषके कथनके जैसा जान पड़ेगा। परन्तु नीचे जिस प्रकार यह कथन किया जाता है उसे समझनेसे तुम्हें उक्त कथनकी यथार्थता जान पड़ेगी और उसमें किसी प्रकारका फिर भ्रम न रह जायगा। जो कोई प्रकार आत्मा कर्मोंका कर्त्ता न हो तो वह भोक्ता भी नहीं बन सकता। और यदि ऐसा ही हो तो फिर उसे किसी प्रकारका दुःख न होना चाहिए। और जब दुःखोंका होना संभव नहीं तब फिर वेदान्तादि शास्त्रोंने दुःखोंसे छुटकारा पानेका उपदेश किस लिए किया? वेदान्त शास्त्र कहते हैं कि जब तक आत्मज्ञान न हो तब तक दुःखोंका आत्यन्तिक क्षय नहीं हो सकता, सो यदि ऐसा न होता तो उन्हें दुःखोंके क्षयका उपदेश किस लिए करना चाहिए? और

इसी प्रकार कर्मोंका कर्तृत्व आत्मामें न हो तो भोक्तृत्व भी कहाँसे होगा ? इस प्रकार विचार करनेसे यह सिद्ध होता है कि आत्मा कर्मोंका कर्त्ता है। यहाँ पर यह प्रश्न और हो सकता है और तुमने भी इस प्रश्नको किया है। वह यह कि जो आत्माको कर्मोंका कर्त्ता माना जाय तो वह उसका धर्म—स्वभाव—ठहरता है; और जो जिसका धर्म होता है वह कभी नष्ट नहीं हो सकता अर्थात् वह उससे सर्वथा भिन्न हो नहीं सकता, जिस प्रकार कि अग्निकी उष्णता या प्रकाश अग्निसे भिन्न नहीं है। इसी प्रकार जो कर्म-कर्तृत्व आत्माका धर्म हो तो वह फिर नाश नहीं हो सकता। परन्तु यह कहना तब ठीक हो सकता है जब कि प्रमाणके एकांशको ही स्वीकार करके इस विषयका विचार किया जाय। परन्तु जो बुद्धिमान् होते हैं वे ऐसा नहीं करते कि प्रमाणके एकांश स्वीकार करके उसके दूसरे अंशको छोड़ दें।

और इस प्रश्नका उत्तर, कि जीव कर्मोंका कर्त्ता नहीं है, अथवा हो तो वह प्रतीत नहीं होता, जीवको कर्मोंका कर्त्ता बतलाते हुए अच्छी तरह दे दिया गया है। तथा यह जो कहा गया कि जीवको कर्मोंका कर्त्ता माननेसे वह कर्तृत्व-धर्म फिर उससे दूर नहीं हो सकेगा, सो यह कोई निश्चित-सिद्धान्त नहीं; क्योंकि जो जो वस्तुयें ग्रहण की जाती हैं वे छोड़ी भी जा सकती हैं। ग्रहण की गई वस्तुकी ग्रहण करनेवालेके साथ एकता नहीं हो सकती। इस लिए जीव जिन द्रव्य-कर्मोंको ग्रहण करता है वह उन्हें त्याग दे तो वे त्यागे जा सकते हैं। कर्म जीवके सह-कारी हैं, स्वाभाविक नहीं हैं। उन कर्मोंको मैंने तुम्हें अनादि भ्रम बतलाया है अर्थात्—जीवको कर्मोंका कर्त्ता अज्ञानके कारण कहा है। इस लिए भी वे जीवसे पृथक् हो सकते हैं। इस प्रकार उक्त दोनों बातें समझमें आती हैं। देखो, जो जो भ्रम होता

है वह वह वस्तुकी उल्टी स्थिति पर विश्वास करानेवाला होता है जिस प्रकार कि मृग-तृष्णामें जलबुद्धिका भ्रम होता है। कहनेका मतलब यह है कि अज्ञानताके कारण ही क्यों न हो, परन्तु आत्माको यदि कर्मोंका कर्त्ता न माना जाय तो फिर उपदेशादिका सुनना, विचार करना, समझना आदिका कोई मतलब नहीं रह जाता। अब यहांसे आगे परमार्थ-दृष्टिसे जीवका जैसा कर्त्तापना है उसका वर्णन किया जाता है।

चेतन जो निजभानमां, कर्ता आपस्वभाव।
वर्त्ते नहीं निजभानमां, कर्ता कर्मप्रभाव ॥ ७८ ॥

यदाऽऽत्मा वर्तते सौवे स्वभावे तत्करस्तदा।
यदाऽऽत्मा वर्ततेऽसौवे स्वभावेऽतत्करस्तदा ॥ ७८ ॥

अर्थात्—आत्मा जब अपने चैतन्यादि शुद्ध स्वभावमें ही प्रवृत्त रहता है तब वह अपने उस

स्वभावहीका कर्त्ता है—अपने स्वभावमें ही स्थित रहता है; और जब उसे शुद्ध चैतन्यादि स्वभावका भान नहीं रहता—उसमें वह स्थित नहीं होता—तब कर्मोंका कर्त्ता है।

समर्थन—अपने स्वरूपका भान रहने पर आत्मा अपने स्वभावका—चैतन्यादि स्वभावका—ही कर्त्ता है; अन्य किसी कर्मादिका कर्त्ता नहीं है। और जब वह अपने स्वरूपमें प्रवृत्त नहीं होता तब कर्म-भावका कर्त्ता होता है। वास्तवमें तो वेदान्तादिकमें जीवको अक्रिय कहा है और इसी प्रकार जिनागममें भी सिद्ध-जीव—शुद्धात्मा—को अक्रिय कहा है। तब हमने उसे जो शुद्धावस्थामें कर्त्ता होनेके कारण सक्रिय कहा, इसमें सन्देह हो सकता है। पर वह सन्देह इस तरह दूर किया जा सकता है कि शुद्धात्मा पर-योगका, पर-भावका और नाना विभावोंका उस अवस्थामें कर्त्ता नहीं इस कारण

अक्रिय कहा जाता है। परन्तु अक्रियका अर्थ यदि यह किया जाय कि वह चैतन्यादि स्वभावका भी कर्त्ता नहीं है तब तो फिर उसका कुछ स्वरूप नहीं रहता। बात यह है कि शुद्धात्मामें योगक्रिया नहीं होती इस लिए तो वह अक्रिय है; और स्वाभाविक चैतन्यादि स्वभाव-रूप क्रिया होती है इस लिए सक्रिय है। चैतन्यता आत्मामें स्वाभाविक होनेके कारण उसमें परिणमन होना एकात्मता ही है; और इस लिए परमार्थ-दृष्टिसे उसमें सक्रिय विशेषण भी नहीं घट सकता। निज-स्वभावमें परिणमन-रूप क्रियासे शुद्धात्मा अपने स्वभावका कर्त्ता कहा गया है। उसमें केवल शुद्ध स्वधर्म होनेसे उसका परिणमन एक आत्मरूप ही होता है। इस लिए उसे 'अक्रिय' कहनेमें भी कोई दोष नहीं है। जिस विचार-दृष्टिसे आत्मामें सक्रियता और अक्रियता निरूपण की गई है उस विचारको परमार्थ-दृष्टिसे

ग्रहण करके देखा जाय तो आत्माको 'सक्रिय' तथा 'अक्रिय' कहनेमें कोई दोष नहीं आ सकता।

शिष्यकी शंका

शिष्य कहता है कि 'जीव कर्मोंका भोक्ता नहीं है,' वह इस प्रकार—

जीव कर्मकर्त्ता कहो, पण भोक्ता नहि सोय।
शुं समजे जड कर्म के, फळपरिणामी होय॥७९॥

स्यादात्मा कर्मणः कर्ता किन्तु भोक्ता न युज्यते।
किं जानाति जडं कर्म येन तत् फलदं भवेत्॥७९॥

अर्थात्—जीवको कर्मोंका कर्त्ता मान भी लिया जाय तो भी वह कर्मोंका भोक्ता नहीं हो सकता। क्योंकि जड़ कर्म इस बातको नहीं समझ सकते कि उनका जीवको फल देनेमें परिणमन हो सकता है— वे फल दे सकते हैं।

फळदाता ईश्वर गण्ये, भोक्तापणुं सधाय।
एम कहे ईश्वरतणुं, ईश्वरपणुं ज जाय॥८०॥

भवेदीश्वरः फलदस्तदाऽऽत्मा भोगभाग् भवेत् ।
अथैश्वर्यं न युज्येत ईश्वरे फलदे मते ॥ ८० ॥

अर्थात्—फलका देनेवाला यदि ईश्वरको मान लिया जाय तो भोक्तापना भी सिद्ध हो जायगा अर्थात् ईश्वर जीवको कर्म भुगताता है इस लिए वह कर्मोंका भोक्ता सिद्ध हो जाता है । परन्तु यदि ईश्वरको फल देनेवाला आदि माना जाय तो साथ ही यह विरोध आता है कि उसका ईश्वरपना ही नहीं ठहर सकता ।

ईश्वर सिद्ध थयाविना, जगत्‌नियम नहि होय ।
पछी शुभाशुभ कर्मनां, भोग्यस्थान नहि कोय ८१

असिद्धे ईश्वरे नैव युज्यते जगतः स्थितिः ।
शुभाऽशुभविपाकानां ततः स्थानं न विद्यते ॥ ८१ ।

अर्थात्—ऐसे फलदाता ईश्वरके सिद्ध न होनेसे जगत्‌का कोई नियम नहीं रह सकता और नियम न रहनेसे शुभाशुभ कर्मोंके भोगनेके लिए कोई

स्थान भी नहीं ठहरता तब जीवका भोक्तापन कहाँ रहा?

सद्गुरुका समाधान

सद्गुरु कहते हैं कि 'जीव अपने किये कर्मोंको भोगता है,' उसका समाधान इस प्रकार है—

भावकर्म निजकल्पना, माटे चेतनरूप।
जीववीर्यनी स्फूरणा, ग्रहण करे जडधूप ॥८२॥

भावकर्म निजा कृतिरतश्चेतनरूपता।
जीववीर्यस्य स्फूर्तेस्तु काति कर्मचयं जडम् ॥८२॥

अर्थात्—जीव भ्रान्तिके वश हो भाव-कर्मोंको—राग-द्वेषादिको—चैतन्य-स्वरूप समझता है। और उसी भ्रमके वशवर्ति रहनेके कारण उसमें एक शक्ति स्फुरित होती है। उसी शक्तिके द्वारा वह जड़-रूप द्रव्य-कर्मकी वर्गणाओंको ग्रहण करता है।

झेर, सुधा समजे नहीं, जीव खाय फळ थाय।
एम शुभाशुभ कर्मनुं, भोक्तापणुं जणाय ॥८३॥

विषं सुधा न वित्तोऽपि खादकः फलमाप्नुयात् ।
एवमेव शुभाऽशुभकर्मणो जीवभोक्तृता ॥ ८३ ॥

अर्थात्—विष और अमृत यह बात नहीं जानते कि हमें इस जीवको फल देना है, तो भी जो (शरीर-धारी) विष या अमृत पीता है उसे फल मिलता है । इसी प्रकार शुभाशुभ कर्म भी यह बात नहीं जानते कि जीवको हमें यह फल देना है तो भी जो शुभाशुभ कर्मोंको ग्रहण करता है उसे विष और अमृतकी भाँति फल प्राप्त होता है ।

एक रांक ने एक नृप, ए आदी जे भेद ।
कारणविना न कार्य ते, ए ज शुभाशुभ वेद्य ॥८४॥

एको रङ्कः प्रजापोऽन्यः इत्यादिभेददर्शनम् ।
कार्यं नाऽकारणं क्वाऽपि वेद्यमेवं शुभाऽशुभम् ८४

अर्थात्—देखो, एक रंक है और एक राजा है, इससे भिन्नता, उच्चता तथा कुरूपता, सुन्दरता आदि

बहुतसी विचित्रतायें देखी जाती हैं। और जहां ऐसा भेद है उसीसे यह सिद्ध है कि समानता नहीं है। यही शुभाशुभ कर्मोंका भोक्तापना है; क्योंकि कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती।

फळदाता ईश्वरतणी, एमां नथी जरूर।
कर्म स्वभावे परिणमे, थाय भोगथी दूर ॥ ८५ ॥

ईश्वरः फलदस्तत्राऽऽवश्यको न हि कर्मणि।
परिणमेत् स्वभावात् तद् भोगाद् दूरं विनश्यति ८५

अर्थात्—विष और अमृतकी भाँति शुभाशुभ कर्म स्वभावहीसे परिणमते रहते हैं। इसमें फल-प्रदान करनेवाले ईश्वरकी कोई जरूरत नहीं। और जिस प्रकार निःसत्व हो जानेके बाद विष और अमृत फल देनेसे रुक जाते हैं—उनमें फिर फल देनेकी शक्ति नहीं रहती—उसी प्रकार शुभाशुभ कर्म भोगे जानेके बाद निःसत्व होकर नष्ट हो जाते हैं।

*समर्थन—जो यह कहा जाय कि कर्मोंका फल ईश्वर प्रदान करता है, तो फिर ईश्वरका ईश्वरत्व ही नहीं रह सकता; क्योंकि दूसरोंको फल देने आदिके प्रपंचमें पड़नेसे ईश्वरके लिए फिर देह-धारण आदि बहुतसी बातोंकी संभावना स्वीकार करनी पड़ेगी; और ऐसा करनेसे उसकी परम शुद्धता नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार मुक्त जीव निष्क्रिय है—पर-भावादिका कर्त्ता—नहीं है; क्योंकि परभावोंके कर्त्ताको संसार धारण करता है इसी प्रकार ईश्वर भी यदि दूसरोंको फल देने आदि रूप क्रिया करे तो उसे भी फिर परभावादिका कर्त्ता मानना पड़ेगा। और इससे यह होगा कि वह मुक्त जीवसे भी नीचा ठहरेगा और उसकी यह स्थिति

---

* ये समर्थन जो जो पदोंके नीचे खसूस दिया गया है वे श्रीमद्‌जीने भिन्न भिन्न पत्रमें इस विषय-पर लिखा हुआ भाग है।—संशोधक

उसके ईश्वरत्वके ही नाशका कारण हो पड़ेगी ।

और सुनो कि जीव और ईश्वरके स्वभावमें भेद माननेसे भी अनेक दोष आते हैं। देखो, दोनोका यदि चैतन्य स्वभाव मानें तो दोनोंको समान धर्मके कर्त्ता होने चाहिए । यह ठीक नहीं है कि ईश्वर तो सृष्टि आदिकी रचना करे, अथवा कर्मोंके फल-प्रदान-रूप कार्य करे, और मुक्त गिना जाय, और जीव एक मात्र शरीरादिकी सृष्टि निर्माण करे और अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिए ईश्वरका आश्रय ले तथा बद्ध गिना जाय। जीव और ईश्वरमें इस प्रकारकी विषमता कैसे संभव हो सकती है? और जीवकी अपेक्षा ईश्वरकी शक्ति विशेष मानें तो भी विरोध आता है। जो ईश्वरको शुद्ध चैतन्य-स्वरूप माना जाय तो शुद्ध चैतन्य-स्वरूप मुक्त जीवमें और ईश्वरमें भेद न होना चाहिए; और ईश्वरके द्वारा कर्म-फल देने आदि-रूप कार्य भी न होना

चाहिए; अथवा मुक्त जीवसे भी ऐसे कार्य होने चाहिए। और यदि ईश्वरको अशुद्ध चैतन्य-स्वरूप माना जाय तो उसकी संसारी जीवोंके जैसी स्थिति ठहरेगी, फिर उसमें सर्वज्ञत्व आदि गुण नहीं हो सकते। कदाचित् यह कहो कि हम उसे शरीर-धारी सर्वज्ञकी भाँति 'शरीरधारी सर्वज्ञ ईश्वर' मान लेंगे, तब भी तुम्हें यह बतलाना पड़ेगा कि सर्व-कर्मफल-दातृत्व-रूप विशेष स्वभाव ईश्वरमें किस गुणके कारण मानना चाहिए? और शरीर तो नष्ट हो जाता है तब कहना पड़ेगा कि ईश्वरका भी शरीर नष्ट होता है। और यदि उसे मुक्त स्वीकार करोगे तो उसमें 'कर्म-फल-दातृत्व' नहीं बन सकता। इत्यादि नाना प्रकारके दोष ईश्वरको कर्म-फलका दाता माननेसे आते हैं और ईश्वरको इसी तरहका मान-नेसे उसका ईश्वरत्व ही नष्ट करनेके जैसा प्रसंग आ उपस्थित होता है।

ते ते भोग्य विशेषना, स्थानक द्रव्य स्वभाव।
गहन वात छे शिष्य आ, कही संक्षेपे साव ॥८६॥

तत्तद्भोग्यविशेषाणां स्थानं द्रव्यस्वभावता।
वार्तेयं गहना शिष्य! संक्षेपे सर्वशोदिता ॥ ८६ ॥

अर्थात्—यद्यपि उत्कृष्ट शुभ परिणाम उत्कृष्ट शुभगति-रूप हैं, उत्कृष्ट अशुभ परिणाम उत्कृष्ट अशुभगति-रूप है; और शुभाशुभ परिणाम मिश्र गति-रूप हैं; मतलब यह कि जीवके परिणामोको ही मुख्यतासे गति-रूप कहा गया है; तथापि द्रव्यका यह विशेष स्वभाव है उत्कृष्ट शुभ द्रव्य ऊर्ध्वगमन करता है, उत्कृष्ट अशुभ द्रव्य अधोगमन करता है और शुभाशुभ द्रव्यकी मध्यस्थिति रहती है; और इन्हीं कारणोंसे ही वैसे वैसे भोग्य स्थान होने चाहिए। हे शिष्य, चैतन्यके स्वभाव, संयोग आदि सूक्ष्म स्वरूपका यहाँ बहुत कुछ समावेश हो सकता है

और इसी लिए यह बात बड़ी गहन है तो भी यहाँ बहुत संक्षेपके साथ कह दी गई है।

समर्थन—यहाँ पर यह शंका भी करना ठीक नहीं है कि 'यदि ईश्वर कर्मोंका फल देनेवाला न हो, अथवा उसे जगत्का कर्त्ता न माना जाय तो कर्म-फल भोगनेके विशेष विशेष स्थान—नरकादि गतियाँ कहाँसे हो सकती हैं; क्योंकि उनके बनानेके लिए तो ईश्वरके कर्तृत्वकी आवश्यकता है।' इसका उत्तर यह है कि मुख्यपने तो उत्कृष्ट परिणाम उत्कृष्ट देव-गति है, उत्कृष्ट अशुभ परिणाम उत्कृष्ट नरक-गति है और शुभाशुभ परिणाम मनुष्य-तिर्यंच आदि गति है। तथा स्थान-विशेष जो ऊर्ध्वलोक-स्थित देव-गति, अधोलोक-स्थित नरक-गति आदि हैं वे इन्हीं परिणामोंके भेद हैं तथा जीव और धर्म द्रव्यके परिणाम विशेष हैं। मतलब यह कि वे वे गतियाँ जीवके कर्म-विशेष परिणाम जान पड़ती है।

इस लोकका परिणमन जीव और पुद्गलकी अचिन्त्य सामर्थ्यके संयोगसे होता है। इस पर विचार करनेके लिए बहुत ही विस्तारके साथ इसका वर्णन किया जाना चाहिए। कारण यह बड़ा ही गहन विषय है। परन्तु यहाँ तो प्रधानतासे इतना ही ध्यान आकर्षित करनेका था कि आत्मा कर्मोंका भोक्ता है, और इसी लिए यहाँ पर यह विषय अत्यन्त ही संक्षेपमें कहा गया।

शिष्यकी शंका

शिष्य कहता है कि 'जीवकी कर्मोंसे मुक्ति नहीं हो सकती'। वह इस प्रकार—

कर्त्ता भोक्ता जीव हो, पण तेनो नहि मोक्ष।
वीत्यो काळ अनंत पण, वर्त्तमान छे दोष ॥८७॥

कर्ता भोक्ताऽस्तु जीवोऽपि तस्य मोक्षो न विद्यते।
व्यतीतोऽनन्तकः कालस्तथाऽप्यात्मा तु दोषभाक् ॥

अर्थात्—जीवको कर्मोंका कर्त्ता और भोक्ता

होने पर भी उसकी कर्मोंसे मुक्ति कभी नहीं हो सकती; क्योंकि हजारों-लाखों वर्ष बीत चुके तब भी कर्मोंका कर्तृत्व-रूपी दोष उसमें विद्यमान है।

शुभ करे फळ भोगवे, देवादी गतिमांय ।
अशुभ करे नरकादि फळ, कर्मरहित न क्यांय ८८

शुभकर्मकरो जीवो देवादिपदवीं व्रजेत् ।
अशुभकर्मकृज्जीवः श्वभ्रं, न क्वाऽप्यकर्मकः ॥८८॥

अर्थात्—जीव शुभ कर्म करे तो उसका देव-गतिमें वह शुभ फल भोगता है और अशुभ कर्म करे तो उसका नरक-गतिमें अशुभ फल भोगता है। परन्तु जीव कर्म-रहित हो कर किसी स्थानमें नहीं रह सकता।

सद्गुरुका समाधान

सद्गुरु कहते हैं कि 'जीवकी कर्मोंसे मुक्ति हो सकती है', वह इस तरह—

जेम शुभाशुभ कर्मपद, जाण्यां सफळ प्रमाण ।
तेम निवृत्तिसफळता, माटे मोक्ष सुजाण ॥८९॥

यथा शुभाशुभं कर्म जीवव्यापारतः फलि ।
फलवन्निर्वाणमप्यस्य तद्व्यापारतस्तथा ॥ ८९ ॥

अर्थात्—जिस प्रकार जीवके शुभाशुभ कर्मोंके करनेके कारण तुमने कर्मोंका कर्त्ता और भोक्ता जाना उसी प्रकार यह भी समझो कि कर्मोंके न करनेसे अथवा किये कर्मोंके निवृत्तिका उपाय करनेसे उन कर्मोंकी निवृत्ति भी हो सकती है। इस लिए कहना चाहिए कि यह निवृत्ति भी सफल है अर्थात् जिस प्रकार शुभाशुभ कर्म निष्फल नहीं जाते उसी प्रकार निवृत्ति भी निष्फल नहीं जा सकती। और हे विचारशील आत्मन्, तू यह समझ कि वह निवृत्ति ही मोक्ष है।

वित्यो काळ अनंत ते, कर्म शुभाशुभ भाव ।
तेह शुभाशुभ छेदतां, उपजे मोक्षस्वभाव ॥९०॥

सदसत्कर्मणो भावादनन्तः समयो गतः ।
संपद्येत तदुच्छेदे जीवे मुक्तिस्वभावता ॥ ९० ॥

अर्थात्—अब तक जो जीवको कर्म-सहित रहते हुए अनन्त काल बीता वह शुभाशुभ कर्मोंके प्रति उसकी आसक्तिके कारण बीता। परन्तु यदि जीव कर्मोंसे उदासीन हो जाय तो वे भी नष्ट हो सकते हैं और इनके नष्ट होनेसे ही मोक्ष-स्वभाव प्रकट हो सकता है।

देहादिक संयोगनो, आत्यंतिक वियोग।
सिद्ध मोक्ष शाश्वतपदे, निज अनंत सुखभोग ९१

आत्यन्तिको वियोगो यो देहादियोगजः खलु।
तन्निर्वाणं समाख्यातं तत्राऽनन्तसुखैकता ॥ ९१ ॥

अर्थात्—जो जीवके साथ देहादिका संयोग है उनका अनुक्रमसे वियोग तो होता रहता है, परन्तु वह संयोग फिर कभी न हो ऐसा वियोग किया जाय तो सिद्ध-स्वरूप मोक्ष-स्वभाव प्रकट हो सकता है और फिर उसमें अनन्त आत्म-सुख भोगनेको मिलता है।

शिष्यकी शंका

शिष्य कहता है कि 'मोक्षका उपाय नहीं है'—

होय कदापि मोक्षपद, नहि अविरोध उपाय ।
कर्मो काळ अनंतनां, शाथी छेद्यां जाय ॥९२॥

मोक्षस्थानं कदापि स्यान्नाऽविरोध्युपायि तत् ।
अनन्तकालजः कर्मचयच्छेद्यः कथं भवेत् ? ॥९२॥

अर्थात्—मोक्ष कदाचित् हो भी तो ऐसा कोई अविरोधी तथा यथार्थ उसकी प्राप्तिका उपाय नहीं है जिस पर विश्वास किया जा सके । क्योंकि अनन्त कालके कर्मोंको थोड़ेसे काल तक स्थिर रहनेवाला मानव-देह कैसे नाश कर सकता है ?

अथवा मत दर्शन घणां, कहे उपाय अनेक ।
तेमां मत साचो कयो ? बने न एह विवेक ॥९३॥

वा मतानि सुभिन्नानि नैकोपायप्रदर्शीनि ।
मतं सत्यं नु किं तत्र शक्यैषा न विवेकिना ॥९३॥

अर्थात्—अथवा थोड़ी देरके लिए मानव-

देहकी कम उम्रकी बातको छोड़ भी दिया जाय तो भी जगत्में मत और दर्शन अनेक हैं और वे सभी मोक्षके नाना उपाय बतलाते हैं। अर्थात्—मोक्षके विषयमें कोई कुछ कहता है और कोई कुछ कहता है तब उनमें सच्चा मत कौनसा है, यह निश्चय करना कठिन है।

कयी जातिमां मोक्ष छे, कया वेषमां मोक्ष।
एनो निश्चय ना बने, घणां भेद ए दोष ॥९४॥

कस्यां जातौ भवेन्मोक्षो वेषे कस्मिंश्च निर्वृतिः।
निश्चेतुमेतन्नो शक्यं बहुभेदो हि दूषणम् ॥९४॥

अर्थात्—और न इस बातका ही निश्चय हो सकता है कि ब्राह्मण आदि किस जातिसे और किस वेषसे मोक्ष होता है। कारण ये भेद भी बहुत हैं। तब इस दोषके कारण भी मोक्षके उपायका प्राप्त होना संभव नहीं दिखाई पड़ता।

तेथी एम जणाय छे, मळे न मोक्ष उपाय ।
जीवादी जाण्या तणो, शो उपकार ज थाय ॥९५॥

तत एवं हि संसिद्धं मोक्षोपायो न विद्यते ।
जीवादिज्ञानसंप्राप्तौ कोपकारो भवेदहा ! ! ॥९५॥

अर्थात्—इन सब बाधाओंके आनेसे यह जान पड़ता है कि मोक्ष का उपाय प्राप्त नहीं हो सकता। तब फिर जीवादिका स्वरूप समझनेसे क्या उपकार हो सकता है? अर्थात्—जिस पदकी प्राप्तिके लिए इनका स्वरूप समझना आवश्यक प्रतीति होता है उसकी प्राप्तिका उपाय ही अशक्य है।

पांचे उत्तरथी थयुं, समाधान सर्वांग ।
समजुं मोक्ष-उपाय तो, उदय उदय सद्भाग्य ९६

प्रश्नपञ्चोत्तरे लब्धे समाधिः सकलोऽजनि !
यदि तत् साधनं विद्यां शिवं श्रेयो भवेच्छिवम्॥९६॥

अर्थात्—शिष्य कहता है कि आपने जो ऊपर मेरी पाँच शंकाओंका समाधान किया उससे पूर्णपने

मुझे सन्तोष हुआ। परन्तु उसी प्रकार जो मोक्षका उपाय भी मेरी समझमें आ जाय तो फिर मेरे सौभाग्यका उदय—पूर्ण उदय—हो जाय। यहाँ पर दो बार 'उदय' शब्दके कहनेसे यह आशय जान पड़ता है कि ऊपर पाँच प्रश्नोंका उत्तर सुनकर शिष्यकी जिज्ञासा-बुद्धि मोक्षका उपाय जाननेके लिए अत्यन्त तीव्र हो उठी है।

सद्गुरुका समाधान।

सद्गुरु कहते हैं—'मोक्षका उपाय है'। समाधान सुनो।

पांचे उत्तरनी थई, आत्मा विषे प्रतीत।
थाशे मोक्षोपायनी, सहज प्रतित ए रीत ॥९७॥

प्रश्नोत्तरेण संजाता प्रतीतिस्तव ह्यात्मनि।
मोक्षोपायस्तथा तात! एष्यति सहजं मनः ॥९७॥

अर्थात्—जब पाँच प्रश्नोंके उत्तरसे तुम्हारे आत्मामें सन्तोष हो गया तब मोक्षका उपाय सुन कर भी इसी तरह सहज ही तुम्हें सन्तोष हो

जायगा। यहाँ 'हो जायगा' और 'सहज' ये जो दो शब्द कहे गये हैं उनसे सद्गुरुका यह मतलब है कि जिसके पाँच प्रश्न हल हो गये उसके मोक्षके उपाय विषयक छठे प्रश्नका हल हो जाना भी कोई कठिन बात नहीं है अथवा इस लिए इन शब्दोंको समझना चाहिए कि शिष्यकी विशेष जिज्ञासाके कारण मोक्षका उपाय उसे अवश्य लाभ होगा। गुरुमहाराजको ऐसा ही भान हुआ है।

कर्मभाव अज्ञान छे, मोक्षभाव निजवास।
अंधकार अज्ञानसम, नाशे ज्ञानप्रकाश ॥ ९८॥

अज्ञानं कर्मभावोऽस्ति मोक्षभावो निजस्थितिः।
ज्वलिते ज्ञानदीपे तु नश्येदज्ञानतातमः ॥ ९८ ॥

अर्थात्—कर्म-भाव जीवकी अज्ञानता है और मोक्ष-भाव जीवकी अपने स्वरूपमें स्थिति होना है। अज्ञानका स्वभाव अंधकारके जैसा है। जिसप्रकार प्रकाश होने पर बहुत कालका भी अंधकार नष्ट हो

जाता है उसी प्रकार ज्ञान-प्रकाशसे अज्ञान नष्ट हो जाता है।

जे जे कारण बंधनां, तेह बंधनो पंथ।
ते कारण छेदकदशा, मोक्षपंथ भवअंत ॥ ९९ ॥

यो यो बन्धस्य हेतुः स्याद् बन्धमार्गो भवेत् स सः।
बन्धोच्छेदस्थितिर्या तु मोक्षमार्गो भवान्तकः ॥९९॥

अर्थात्—जो जो कर्म-बन्धके कारण हैं वे वे कर्म-बन्धके मार्ग हैं और इन कारणोंको जो अवस्था नष्ट कर सके वही मोक्ष-मार्ग है—संसारका अन्त है।

राग, द्वेष, अज्ञान ए, मुख्य कर्मनी ग्रंथ।
थाय निवृत्ति जेहथी, ते ज मोक्षनो पंथ ॥१००॥

रागो द्वेषस्तथाऽज्ञानं कर्मणां ग्रन्थिरग्रगा।
यस्मात् तन्निवृत्तिः स्यान्मोक्षमार्गः स एव भोः!

अर्थात्—राग द्वेष और अज्ञानकी एकता ही कर्मकी मुख्य गांठ है—इनके बिना कर्मोंका बंध नहीं

हो सकता। इन कर्मोंकी जिसके द्वारा निवृत्ति हो सके वही मोक्षका मार्ग है।

आत्मा सत् चैतन्यमय, सर्वाभासरहीत।
जेथी केवळ पामिये, मोक्षपंथ ते रीत ॥ १०१ ॥

संश्चेतनामयो जीव! सर्वाभासविवर्जितः।
प्राप्यते स यतः शुद्धो मोक्षमार्गः स एव भोः! १०१

अर्थात्—शुद्धात्मा सत्–'अविनाशी'—है, 'चैतन्यमय'–सब पदार्थोंके प्रकाशित करनेवाले स्वभावरूप–है, और 'केवल'–सब विभाव और देहादिकके संयोगसे रहित—है। ऐसे शुद्धात्माकी प्राप्तिके लिए प्रवृत्त होना 'मोक्ष मार्ग' है।

कर्म अनंत प्रकारनां, तेमां मुख्ये आठ।
तेमां मुख्ये मोहिनिय, हणाय ते कहुं पाठ १०२

अनन्तभेदकं कर्म चाष्टौ मुख्यानि तेष्वपि।
तत्राऽपि मोहना मुख्या वक्ष्ये तद्धनने विधिम् १०२

अर्थात्—वैसे तो कर्म अनन्त प्रकारके हैं;

परन्तु मुख्यतासे उनमें आठ प्रकारके हैं। उनमें भी मुख्य मोहनीय-कर्म है। उसका नाश करनेका उपाय मैं नीचे बतलाता हूँ।

कर्म मोहिनीय भेद बे, दर्शन, चारित्र नाम।
हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम १०२

मोहनं द्विविधं तत्र दृष्टि-चारित्रभेदतः।
बोधो हि दर्शनं हन्याच्चारित्रं रागहीनता ॥ १०२ ॥

अर्थात्—उस मोहनीय-कर्मके दो भेद हैं। एक 'दर्शनमोहनीय' और दूसरा 'चारित्रमोहनीय'। दर्शनमोहनीय वह है जो परमार्थमें अपरमार्थ-रूप बुद्धिको और अपरमार्थमें परमार्थ-रूप बुद्धिको करता है; और चारित्रमोहनीय कहते हैं जो परमार्थको परमार्थ-रूप जान कर आत्मस्वभावमें स्थिरता की जाती है उस स्थिरताके रोकनेवाली, पूर्वसंस्काररूप कषायें तथा नो-कषायें हैं। आत्म-ज्ञान दर्शनमोहनीयका और वीतरागता चारित्रमोहनीयका नाश करती

है। ये दोनों उनके नाशके निश्चीत उपाय हैं। कारण मीथ्याज्ञान-रूप दर्शनमोहनीयका शत्रु सम्यग्ज्ञान है और रागादिक परिणाम-रूप चारित्रमोहनीयका शत्रु वीतराग-भाव है। मतलब यह कि प्रकाशसे जिस प्रकार अन्धकार नष्ट हो जाता है—वह उसके नाशका निश्चित उपाय है—उसी प्रकार दर्शनमोहनीय और चरित्रमोहनीय-रूपी अन्धकारके नाश करनेके लिए सम्यग्ज्ञान और वीतरागता प्रकाशके जैसे हैं। इसी लिए इन्हें दोनों मोहनीय कर्मोंके नाशके निश्चित उपाय कहा है।

कर्मबंध क्रोधादिथी, हणे क्षमादिक तेह।
प्रत्यक्ष अनुभव सर्वने, एमां शो संदेह ॥१०४॥

क्रोधादियोगतः कर्मबन्धः शान्त्यादिघातकः।
अत्रानुभूतिः सर्वेषां तत्र का संशयालुता? ॥ १०४ ॥

अर्थात्—क्रोधादि-रूप भावोंके होनेसे कर्म-बन्ध होता है और क्षमादि-रूप भावोंसे क्रोधादिका नाश

होता है। अर्थात् क्षमासे क्रोध, सरलतासे माया और सन्तोषसे लोभ रोका जा सकता है। इसी प्रकार रति, अरति आदि दोष अपने प्रतिपक्षी गुणोंसे रोके जा सकते हैं। इसे ही कर्मबन्ध-निरोध कहते हैं; और यही निरोध कर्मोंकी निवृत्ति है। इस बातका सबको प्रत्यक्ष अनुभव है अथवा चाहें तो सब प्रत्यक्ष अनुभव कर भी सकते हैं कि ये क्रोधादिक रोकनेसे रोके जा सकने हैं; और कर्म-बन्धके रोकनेका यत्न करना कर्म-रहित अवस्थाका मार्ग है। यह मार्ग पर-लोकमें ही नहीं किन्तु यहीं अनुभवमें आता है तब फिर इसमें सन्देह क्यों करना चाहिए ?

छोडी मत दर्शन तणो, आग्रह तेम विकल्प।
कह्यो मार्ग आ साधशे, जन्म तेहना अल्प १०५

मतदृष्ट्याग्रहं त्यक्त्वा विकल्पाचरणं तथा।
आराध्येतोक्तमार्गो यैः तेषां हि जननाल्पता ॥१०५॥

अर्थात्—यह केवल आग्रह मात्र है कि मुझे

इसी मतमें इसी लिए लगा रहना चाहिए कि वह मेरा मत है तथा इस दर्शनको इस लिए हर प्रकार सिद्ध करनेका यत्न करना चाहिए कि वह मेरा दर्शन है। इससे कुछ लाभ नहीं। किन्तु जो इस प्रकारका आग्रह अथवा विकल्प छोड़ कर ऊपर जिस मार्गका स्वरूप कहा गया है उसका साधन करेंगे, समझना चाहिए कि उन्हींके जन्म थोड़े रहे हैं। यहाँ जन्म शब्दका प्रयोग बहु वचनमें किया गया है, वह सिर्फ इस बातके दिखानेके लिए है कि कदाचित् उस मार्गके साधन अधूरे रह गये हों अथवा जघन्य या मध्यम परिणामोंसे उसकी आराधना हुई हो तो सब कर्मोंका क्षय न होनेके कारण आराधकके लिए दूसरा जन्म ग्रहण करना संभव है। पर वे जन्म अधिक नहीं बहुत ही थोड़े हैं। जिन भगवानने कहा है कि सम्यक्त्व हो जाने पर यदि वह फिर न छूटे तो उस जीवको ज्यादासे ज्यादा पन्द्रह भव धारण करना

पड़ते हैं। और जो उत्कृष्ट परिणामोंसे उस मार्गकी आराधना करता है वह तो उसी भवसे मोक्ष जाता है। इस बातका यहाँ कुछ विरोध नहीं है।

षट्पदना षट् प्रश्न ते, पूछ्या करी विचार।
ते पदनी सर्वांगता, मोक्षमार्ग निरधार ॥१०६॥

पदषट्कस्य षट् प्रश्नाः पृष्टाः संचिन्त्य रे! त्वया।
तत्पदानां समूहत्वे मुक्तिवासः सुनिश्चितम् ॥ १०६ ॥

अर्थात्—हे शिष्य, तूने जो विचार कर छः पदोंके सम्बन्धमें छः प्रश्न किये हैं, तू निश्चय समझ कि उनकी पूर्णतामें ही मोक्ष-मार्ग है। इनमेंसे एक भी पदके उत्थापनका एकान्त या अविचारसे यत्न करने पर मोक्ष-मार्ग सिद्ध नहीं हो सकता।

जाति-वेषनो भेद नहीं, कह्यो मार्ग जो होय।
साधे ते मुक्ती लहे, एमां भेद न कोय ॥१०७॥

जातेर्वेषस्य नो भेदो यदि स्यादुक्तमार्गता।
तां तु यः साधयेत् सद्यो न काचित् तत्र भिन्नता १०७

अर्थात्—जो मोक्ष-मार्ग बतलाया गया है वह हो तो चाहे जिस जाति या वेषसे प्राप्त किया जा सकता है। उसमें कुछ भी भेद नहीं है। जो उसका साधन करेगा उसे मोक्ष प्राप्त होगा ही। इसी प्रकार उस मोक्षमें भी किसी प्रकारकी ऊँच-नीचताका भेद नहीं है अथवा ये जो वचन कहे हैं उनमें कोई प्रकारका भेद-फेर-फार-नहीं हैं।

कषायनी उपशांतता, मात्र मोक्षअभिलाष।
भवे खेद अंतर दया, ते कहिये जिज्ञास ॥१०८॥

कषायस्योपशान्तत्वं मोक्षे रुचिर्हि केवलम्।
भवे खेदो दया चित्ते सा जिज्ञासा समुच्यते ॥१०८॥

अर्थात्—उस जीवको मोक्ष-मार्गका जिज्ञासु कहना चाहिए जिसकी कि कषायें मन्द पड़ गई हैं, जिसे मोक्ष-प्राप्तिके सिवा किसी प्रकारकी इच्छा नहीं है, जो संसारके विषय-भोगोंसे बड़ा उदासीन है तथा इसी प्रकार संसारके प्राणियों पर जिसे अन्तरंगसे

दया है अर्थात् ऐसे मनुष्यको मोक्ष प्राप्त करनेका पात्र कहना चाहिए।

ते जिज्ञासु जीवने, थाय सद्गुरुबोध।
तो पामे समकितने, वर्त्ते अंतरशोध ॥ १०९ ॥

सद्गुरोर्बोधमाप्नुयात् स जिज्ञासुर्नरो यदि।
तदा सम्यक्त्वलाभः स्यादात्मशोधनता अपि १०९

अर्थात्—इस जिज्ञासु प्राणिको यदी सद्गुरुका उपदेश मिल जाय तो यह सम्यक्त्व प्राप्त कर आत्मान्वेषणके यत्न करनेमें प्रवृत्त हो सकता है।

मत दर्शन आग्रह तजी, वर्त्ते सद्गुरुलक्ष।
लहे शुद्ध समकित ते, जेमां भेद न पक्ष ॥११०॥

मतदृष्ट्याग्रहैर्हीना यद्वृत्तिर्गुरुपादयोः।
स संलभेत सम्यक्त्वं यत्र भेदो न पक्षता ॥ ११० ॥

अर्थात्—अपने मत और दर्शनका आग्रह छोड़ कर जो सद्गुरुके उपदेशानुसार चलनेका यत्न

करता है उसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। उस सम्यक्त्वमें किसी प्रकारका भेद या पक्षपात नहीं है।

वर्त्ते निजस्वभावनो, अनुभव लक्ष प्रतीत।
वृत्ति वहे निजभावमां, परमार्थे समकित॥१११॥

अनुभूतिः स्वभावस्य तल्लक्ष्यं तत्र प्रत्ययः।
निजतां संवहेद् वृत्तिः सत्यं सम्यक्त्वमुच्यते॥१११॥

अर्थात्—जहाँ आत्म-स्वभावका अनुभव, उसके प्रती हृदयका आकर्षण तथा उस पर विश्वास है और प्रवृत्ति भी उसी ओर लग रही है वहीं वास्तवमें सम्यक्त्व होता है।

वर्धमान समकीत थई, टाळे मिथ्याभास।
उदय थाय चारित्रनो, वीतरागपद वास॥११२॥

भूत्वा वर्द्धिष्णु सम्यक्त्वं मिथ्याभासं प्रटालयेत्।
चारित्रस्योदयस्तत्र वीतरागपदस्थितिः॥ ११२॥

अर्थात्—वह सम्यक्त्व अपनी बढ़ती हुई उज्वलतासे, आत्मामें जो हास्य, शोकादि कुछ दोष

मिथ्या भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं उसे दूर करता है, और उससे स्वभाव-समाधि-रूप चारित्रका उदय होता है जिससे कि सब राग-द्वेषके क्षय-रूप वीतराग पदमें आत्माकी स्थिति होती है ।

केवळ निजस्वभावनुं, अखंड वर्त्ते ज्ञान ।
कहिये केवळज्ञान ते, देह छतां निर्वाण ॥११३॥

केवलं स्वस्वभावस्य स्थिरा यत्र भवेन्मतिः ।
सोच्यते केवलज्ञानं देहे सत्यपि निर्वृत्तिः ॥ ११३ ॥

अर्थात्—सब प्रकारके आभास-रहित आत्माके ज्ञान-गुणकी अखण्डता कभी खंडित न हो, मन्द न हो तथा नष्ट न हो उसे केवलज्ञानको प्राप्त होने पर शरीर रहते हुए भी उत्कृष्ट जीवन-मुक्त-रूप दशाका अनुभव किया जाता है ।

कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय ।
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय ११४

स्वप्नोऽपि कोटिवर्षस्य निद्रोच्छेदे समाप्यते ।
विभावोऽनादिजो दूरं नश्येद् ज्ञाने तथा सति ११४

अर्थात्—जिस प्रकार जाग्रत होने पर करोड़ों वर्षोंका भी स्वप्न उसी क्षण अदृश्य हो जाता है उसी प्रकार आत्म-ज्ञान हो जाने पर सब विभाव-भाव दूर हो जाते हैं ।

छूटे देहाध्यास तो, नहीं कर्त्ता तुं कर्म ।
नहीं भोक्ता तुं तेहनो, ए ज धर्मनो मर्म ॥११५॥

देहाध्यासो यदि नश्येत् त्वं कर्ता न हि कर्मणाम् ।
न हि भोक्ता च तेषां त्वं धर्मस्यैतद् गूढं मतम् ११५

अर्थात्—हे शिष्य, धर्मका मर्म यह है कि जो शरीरमें आत्म-बुद्धि मानी जाती है और जिसके कारण स्त्री-पुत्र आदि सब वस्तुओंमें मोह भाव हो रहा है वह आत्म-बुद्धि तो आत्मामें ही मान जानी चाहिए । इससे, देहमें जो आत्मत्व-बुद्धि हो रही है

वह छूट जाय तो तू फिर न कर्मोंका कर्त्ता रहे और न भोक्ता;—

ए ज धर्मथी मोक्ष छे, तुं छो मोक्षस्वरूप।
अनंत दर्शन ज्ञान तुं, अव्याबाध स्वरूप ॥११६॥

मोक्ष एव ततो धर्मान्मोक्षात्मा च त्वमेव भोः।
अनन्तदर्शनं त्वं च अव्याबाधस्वरूपस्त्वकम् ॥११६॥

अर्थात्—और इसी धर्मसे मोक्ष होता है; और तू स्वयं ही मोक्ष-स्वरूप है। मतलब यह कि शुद्ध आत्म-पद ही मोक्ष है और वह आत्मा—तू—अनंत ज्ञान-दर्शन तथा सुख-स्वरूप है।

शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम।
बीजुं कहिये केटलुं? कर विचार तो पाम ॥११७॥

शुद्धो बुद्धश्चिदात्मा च स्वयंज्योतिः सुखालयम्।
विचारय ततो विद्धि स्वं बहु तु किमुच्यते? ॥११७॥

अर्थात्—तू शरीरादिक सब वस्तुओंसे भिन्न है। आत्म-द्रव्य किसीमें नहीं मिलता और न आत्मामें

ही कोई मिलता है । परमार्थ-दृष्टिसे द्रव्य द्रव्यसे सदा भिन्न रहता है । इसी लिए तू शुद्ध है, ज्ञान-स्वरूप है, चैतन्य प्रदेशात्मक है, स्वयं-ज्योति है अर्थात् तुझे कोई प्रकाशित नहीं करता—तू स्वभावसे ही प्रकाश-स्वरूप है; और अव्याबाध सुखका धाम है । इससे अधिक और क्या कहा जाय; अथवा और कहना ही क्या बाकी रह जाता है । थोड़ेमें यह कहा जाता है कि जो तू विचार करेगा तो इस पदको अवश्य प्राप्त होगा ।

निश्चय सर्वे ज्ञानिनो, आवी अत्र शमाय ।
धरी मौनता एम कहि, सहज समाधीमांय ११८

सर्वेषां ज्ञानिनामत्र समाप्तिमेति निश्चयः ।
उक्त्वैवं गुरुणा मौनं समाधौ सहजे धृतम् ॥ ११८ ॥

अर्थात्—सब ज्ञानी-महात्माओंका निश्चय यहीं आकर स्थिर होता है । इस प्रकार उपदेश देकर

सद्गुरुने मौन धारण कर लिया—वचन-योगकी प्रवृत्तिका त्याग कर वे सहज समाधिमें स्थिर हो गये ।

शिष्यको ज्ञान-लाभ

सद्गुरुना उपदेशथी, आव्युं अपूर्व भान ।
निजपद निजमांही लह्युं, दूर थयुं अज्ञान ॥११९॥

सद्गुरोरुपदेशात् त्वाऽऽगतं मानमपूर्वकम् ।
निजे निजपदं लब्धमज्ञानं लयतां गतम् ॥११९॥

अर्थात्—सद्गुरुके उपदेशसे शिष्यको वह अपूर्व भान हुआ जो पहले कभी न हुआ था । और अपना यथार्थ स्वरूप अपने ही आत्मामें प्रतिभासित होकर उसका देहादिमें आत्म-बुद्धि-रूप सब अज्ञानभाव दूर हो गया ।

भास्युं निजस्वरूप ते, शुद्ध चेतनारूप ।
अजर, अमर, अविनाशिने, देहातीत स्वरूप १२०

तद् भासितं निजं रूपं शुद्धं चैतन्यलक्षणम् ।
अजरं चामरं स्यात्तु देहातीतं सुनिर्मलम् ॥१२०॥

अर्थात्—अपना स्वरूप उसे शुद्ध चैतन्यमय, अजर, अमर, अविनाशी तथा शरीरादिसे स्पष्ट भिन्न भासमान हुआ।

कर्त्ता, भोक्ता कर्मनो, विभाव वर्त्ते ज्यांय।
वृत्ति वही निजभावमां, थयो अकर्त्ता त्यांय १२१

यदा विभावभावः स्याद् भोक्ता कर्ता च कर्मणः।
यदाऽविभावभावः स्याद् भोक्ता कर्ता न कर्मणः१२१

अर्थात्—जहाँ विभाव-भाव—मिथ्यात्व—है वहीं निश्चय-नयसे कर्मोंका कर्त्तापना और भोक्तापना है; और जहाँ विभाव-भाव दूर हो गया है वहाँ न कर्त्तापना है और न भोक्तापना अर्थात् आत्म-स्वभावमें प्रवृत्ति हो जानेसे आत्मा अकर्त्ता हो गया।

अथवा निजपरिणाम जे, शुद्ध चेतनारूप।
कर्त्ता भोक्ता तेहनो, निर्विकल्पस्वरूप ॥१२२॥

स्वाभाविक्यस्ति वा वृत्तिः शुद्धा या चेतनामयी।
तस्याः कर्ताऽस्ति भोक्ताऽस्ति निर्विकल्पस्वरूपभाक् ॥

अर्थात्—अथवा शुद्ध चैतन्य स्वरूप जो आत्म-परिणाम हैं उनका निर्विकल्परूपसे कर्त्ता और भोक्ता हुआ।

मोक्ष कह्यो निजशुद्धता, ते पामे ते पंथ।
समजाव्यो संक्षेपमां, सकळ मार्ग निर्ग्रंथ॥१२३॥

उक्तो मोक्षो निजा शुद्धिः स मार्गो लभ्यते यतः।
संक्षेपेणोदितः शिष्य! नैर्ग्रन्थः सकलः पथः॥१२३॥

अर्थात्—आत्माका शुद्ध पद मोक्ष है, वह जिसके द्वारा प्राप्त किया जा सके उसे मोक्ष-मार्ग समझना चाहिए। श्रीसद्गुरुने कृपा करके निर्ग्रन्थ-पनेका सब मार्ग अच्छी तरह समझा दिया।

अहो! अहो! श्रीसद्गुरु, करुणासिंधु अपार।
आ पामर पर प्रभु कर्यो, अहो! अहो! उपकार॥

कृपापानीयकूपार! गुरुदेव! अहो! अहो!!
अयमुपकृतो दीनश्चोपकारस्त्वहो! अहो! ॥१२४॥

अर्थात्—हे करुणाके अपार समुद्र, हे आत्म-

लक्ष्मी-विराजमान प्रभो, हे सद्गुरो, अहा, आपने इस क्षुद्र प्राणी पर विस्मय उत्पन्न करनेवाला उपकार किया है!

शुं प्रभुचरण कने धरूं? आत्माथी सौ हीन।
ते तो प्रभुए आपियो, वर्तुं चरणाधीन ॥१२५॥

प्रभोः पादे धरेयं किमात्मनो हीनकं समम्।
अर्पितः प्रभुणा सोऽस्ति भवेयं तद्वशंवदः ॥१२५॥

अर्थात्—जिन सुगुरुने मेरा इतना उपकार किया उनके चरणोंकी भेंट मैं क्या करूं? यद्यपि सद्गुरु प्रभु तो निष्काम हैं, और मात्र निष्काम करुणासे पउदेश करते हैं; परन्तु अपने शिष्य-धर्मका स्मरण कर मैं कहता हूँ कि संसारमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब तो आत्माकी अपेक्षा कुछ मूल्यवान नहीं हैं तब जिनने मुझे आत्मा प्रदान किया उनके सामने मैं उसे छोड़ कर और क्या अर्पण करूं?

इस कारण उपचारसे मात्र इतना कर सकता हूँ कि मैं सर्वथा उन्हीं एक सद्गुरुके शरण हूँ।

आ देहादी आजथी, वर्त्तो प्रभुआधीन।
दास, दास, हुं दास छुं, तेह प्रभुनो दीन ॥१२६॥

अथतस्तच्छरीरादि जायतां प्रभुचेटकम्।
दासो दासोऽस्मि दासोऽस्मि तत्प्रभोर्दीनशेखरः १२६

अर्थात्—ये शरीर आदि जो मेरे गिने जाते हैं आजसे इन सबको मैं प्रभुके अधीन करता हूँ। मैं उन प्रभुका अब दास हूँ—अत्यन्त दास हूँ—बड़ा ही दीन दास हूँ।

षट् स्थानक समजाविने, भिन्न बताव्यो आप।
म्यानथकी तरवारवत्, ए उपकार अमाप १२७

स्थानषट्कं विसंज्ञाप्य भिन्नं दर्शितवान् भवान्।
असिकोशमिवाऽऽत्मानं चामितोऽयमनुग्रहः १२७

अर्थात्—हे देव, आपने छहों पदोंका स्वरूप समझा कर म्यानसे तलवारको जुदी करनेकी भाँति

आत्माको शरीरादिकसे स्पष्ट जुदा कर दिया। प्रभो, आपने मुझ पर वह उपकार किया है कि जिसकी कोई इयत्ता-सीमा-नहीं।

उपसंहार

दर्शन षटे शमाय छे, आ षट्‌ स्थानक मांहि।
विचारतां विस्तारथी, संशय रहे न कांइ ॥१२८॥

स्थानषट्‌के समाप्यन्ते दर्शनानि षडेव भोः।।
न तत्र संशयः कोऽपि यद्यालोच्यते विस्तरम्‌ १२८

अर्थात्‌—इन छहों पदोंमें छहों दर्शन समा-जाते हैं। अच्छी तरह विचार करने पर फिर किसी प्रकारका सन्देह नहीं रह जाता।

आत्मभ्रांतिसम रोग नहि, सद्गुरु वैद्य सुजाण।
गुरुआज्ञासम पथ्य नहि, औषध विचार ध्यान॥

श्री सुभाग्य अने श्री अचळ, आदि मुमुक्षु काज।
तथा भव्यहित कारणे, कह्यो बोध सुखसाज॥

आत्मभ्रान्तिसमो रोगो नास्ति भिषग् गुरूपमः ।
गुरोराज्ञासमं पथ्यं ध्यानतुल्यं न चौषधम् ॥ १२९ ॥

अर्थात्—आत्माके स्वरूपका भान न होनेके जैसा तो कोई रोग नहीं है, सद्गुरुके जैसे सच्चे और कुशल कोई वैद्य नहीं है, सद्गुरुकी आज्ञानुसार चलनेके जैसा कोई पथ्य नहीं है और विचार तथा निदिध्यासन—ध्यान—के जैसी कोई औषधि नहीं है।

जो इच्छो परमार्थ तो, करो सत्य पुरुषार्थ ।
भवस्थिति आदी नाम लइ, छेदो नहि आत्मार्थ ॥

प्रेप्सवः परमार्थं ये ते कुर्वन्त्वात्मपौरुषम् ।
भवस्थित्यादिहेतोर्मा न च्छिन्दन्तु निजं बलम् १३०

अर्थात्—जो तुम परमार्थको चाहते हो तो सच्चा पुरुषार्थ करो; कर्मोंके उदय आदिका आश्रय लेकर आत्म-हितसे मुँह न मोड़ो।

निश्चयवाणी सांभळी, साधन तजवां नोय ।
निश्चय राखी लक्षमां, साधन करवां सोय १३१

आकर्ण्य निश्चितां वाणीं त्याज्यं नैव सुधाधनम् ।
रक्षित्वा निश्चये लक्ष्यमाचर्यः साधनाचयः ॥१३१॥

अर्थात्—निश्चय-नयका कथन सुन कर,—कि आत्मा अबंध है, असंग है, सिद्ध है,—साधनोंको न छोड़ दो; किन्तु निश्चय-नयका स्वरूप ध्यानमें रख कर साधनों द्वारा उस निश्चय-स्वरूपके प्राप्त करनेका यत्न करो।

नय निश्चय एकांतथी, आमां नथी कहेल ।
एकांते व्यवहार नहीं, बन्ने साथ रहेल ॥१३२॥

निश्चयो व्यवहारो वा नात्रैकान्तेन दर्शितः ।
यत्र स्थाने यथायोग्यं तथा तद् युगलं भवेत् ॥१३२॥

अर्थात्—यहाँ न तो एकान्तसे निश्चय-नयका कथन किया गया है और न व्यवहार-नयका; किन्तु दोनों जहाँ जिस प्रकार घट जायँ उसी प्रकार एक साथ रहती हैं।

गछ मतनी जे कल्पना, ते नहि सद्व्यवहार।
भान नहीं निजरूपनुं, ते निश्चय नहि सार १३३

सद्व्यवहारहीनाऽस्ति कल्पना मत-गच्छयोः।
निजभानाद् ऋते तात! निश्चयो न हि सुन्दरः १३३

अर्थात्—गच्छ, पंथ, आदि मत-कल्पना सद्व्यवहार नहीं है; किन्तु आत्मार्थी पुरुषोंके लक्षणमें जिस दशाका वर्णन किया गया है और मोक्षोपाय बतलाते हुए जो जिज्ञासुके लक्षण कहे गये हैं वह सद्व्यवहार है। उसका यहाँ बहुत ही संक्षेपमें वर्णन किया है। इसी प्रकार जिसे अपने आत्म-स्वरूपका भान नहीं अर्थात् शरीरादिके अनुभवकी भाँति जिसे आत्माका अनुभव नहीं हुआ, देहमें जिसकी ममत्व-बुद्धि है और जो वैराग्यादि साधनोंको प्राप्त किये बिना ही 'निश्चय' निश्चय' चिल्लाया करता है उसका वह निश्चय-नयका गर्व निस्सार है-निष्फल है।

आगळ ज्ञानी थइ गया, वर्त्तमानमां होय ।
थाशे काळ भविष्यमां, मार्गभेद नहि कोय १३४

अभूवन् ज्ञानिनः पूर्वं वर्तन्ते ये च नाऽऽगताः ।
विदां तेषां समिषां वै मार्गभेदो न विद्यते ॥ १३४ ॥

अर्थात्—भूतकालमें जो ज्ञानी जन हो गये हैं, वर्तमानमें हैं तथा भविष्यमें होंगे उनके मार्गमें कोई भेद नहीं है अर्थात् वास्तवमें उन सबका एक ही मार्ग है। और उस मार्गके प्राप्त करने योग्य व्यवहारका परमार्थ-साधक-रूपसे देशकालादिके भेदों द्वारा भी वर्णन किया गया हो तो भी उसका फल एक ही उत्पन्न होगा–परमार्थसे उसमें कोई भेद नहीं है।

सर्व जीव छे सिद्धसम, जे समजे ते थाय ।
सद्गुरुआज्ञा जिनदशा, निमित्त कारण मांय १३५

सिद्धतुल्यान् समान् जीवान् यो जानाति भवेन् स सः
अर्हत्स्थितिर्गुरोराज्ञा निमित्तं तत्र विद्यते ॥ १३५ ॥

अर्थात्—सब जीवोंमें सिद्धोंके सदृश सत्ता है; परन्तु वह उसीमें प्रकट होती है जो उसे समझता है। उसकी प्राप्तिके दो निमित्त कारण हैं। एक तो सुगुरुकी अज्ञानुसार चलना; और दूसरे सद्गुरु द्वारा उपदेश की गई जिन-अवस्थाका विचार करना।

उपादाननुं नाम लई, ए जे तजे निमित्त।
पामे नहीं सिद्धत्वने, रहे भ्रांतिमां स्थित॥१३६॥

उपादानच्छलेनैव निमित्तानि त्यजन्ति ये।
लभन्ते सिद्धभावं नो भ्रान्ताः स्युस्ते उत ध्रुवम् १३६

अर्थात्—शास्त्रोंमें आत्म-साधनके दो कारण कहे गये हैं। एक निमित्तकारण और दूसरा उपादान-कारण। सद्गुरुकी आज्ञा आदि निमित्त-कारण है और आत्माके ज्ञान-दर्शन आदि उपादान-कारण हैं। इस लिए जो केवल उपादानका नाम ले लेकर निमित्त-कारणको छोड़ देंगे वे सिद्धत्वको प्राप्त न होंगे और भ्रममें पड़े रहेंगे कारण शास्त्रोंने सच्चे

निमित्त-कारणके निषेधार्थ उपादानकी व्याख्या नहीं की गई है। परन्तु इतना ध्यानमें रक्खो कि सच्चे निमित्त-कारणके मिलने पर उपादानको सुषुप्ति अवस्थामें रखनेसे भी कुछ लाभ नहीं। इस लिए सच्चे निमित्तके मिलने पर उसकी सहायतासे उपादानको अभिमुख करना उचित है, पुरुषार्थ-रहित होना ठीक नहीं है। ऋषियोंकी की हुई व्याख्याका यह मथितार्थ है।

मुखथी ज्ञान कथे अने, अंतर छूट्यो न मोह।
ते पामर प्राणी करे, मात्र ज्ञानिनो द्रोह ॥१३७॥

वक्ति ज्ञानकथां वक्त्राच्चित्तं मोहतमावृतम्।
यस्य रङ्कस्य मर्त्यस्य ज्ञानिद्रोही स केवलम् ॥१३७॥

अर्थात्—मुँहसे जो निश्चय-नयका ढोंग करते हैं; परन्तु अन्तरङ्गमें स्वयं मोहको नहीं छोड़ सकते ऐसे क्षुद्र प्राणी अपनेको ज्ञानी कहलानेकी कामनासे सच्चे ज्ञानी पुरुषोंके साथ द्रोह करते हैं।

दया, शांति, समता, क्षमा, सत्य, त्याग, वैराग्य॥
होय मुमुक्षुघटविषे, एह सदाय सुजाग्य॥१३८॥

दया शान्तिः क्षमा साम्यं वैराग्यं त्याग-सत्यते।
मुमुक्षुहृदये नित्यमेते स्युः प्रकटा गुणाः॥१३८॥

अर्थात्—मुमुक्षुके हृदयमें दया, शान्ति समता क्षमा, सत्य, त्याग और वैराग्य ये गुण सदा जाग्रत रहते हैं। अर्थात् इन गुणोंके बिना मनुष्य मुमुक्षु नहीं हो सकता।

मोहभाव क्षय होय ज्यां, अथवा होय प्रशांत।
ते कहिये ज्ञानीदशा, बाकी कहिये भ्रांत॥१३९॥

यत्राऽस्ति मोहनं क्षीणं वा प्रशान्तं भवेत् तकत्।
वाच्या ज्ञानिदशा साऽन्या भ्रान्तता स्पष्टमुच्यते॥

अर्थात्—मोह-भावका जहाँ क्षय हो गया हो अथवा मोहावस्था अत्यन्त मन्द पड़ गई हो उसे ज्ञानावस्था कहते हैं। इसके सिवा जिसने अपनेमें ज्ञान प्राप्त हो जानेकी कल्पना करली है वह केवल भ्रान्ति है।

सकळ जगत् ते एठवत्, अथवा स्वप्नसमान ।
ते कहिये ज्ञानीदशा, बाकी वाचाज्ञान ॥१४०॥

उच्छिष्टान्नायमानं वा स्वप्नवद् वेत्ति यो जगत् ।
एषा ज्ञानिस्थितिर्वाच्या शेषं वाग्जालमामतम् १४०

अर्थात्—सारे जगत्को जिसने एक झूठी वस्तुके जैसा समझा है अथवा जिसके ज्ञानमें जगत् स्वप्नके जैसा भासमान हो रहा है वही सच्ची ज्ञानावस्था है बाकी केवल वचनोंसे कहा जानेवाला ज्ञान वाग्जाल है ।

स्थानक पांच विचारीने, छठ्ठे वर्त्ते जेह ।
पामे स्थानक पांचमुं, एमां नहीं संदेह ॥१४१॥

स्थानपञ्चकमालोच्य षष्ठके यः प्रवर्तते ।
प्राप्नुयात् पञ्चमं स्थानं नाऽत्र शङ्काकणोऽपि रे! १४१

अर्थात्—ऊपर कहे गये पाँचों पदोंके स्वरूपका विचार कर जो छठे पदमें अपनी प्रवृत्ति

करता है—मोक्षके उपायका साधन करता है—वह पंचमपद निर्वाण लाभ करता है।

देह छतां जेनी दशा, वर्त्ते देहातीत।
ते ज्ञानीनां चरणमां, हो! वंदन अगणीत १४२

देहातीता दशा यस्य देहे सत्यपि वर्तते।
तज्ज्ञानिचरणे मेऽस्तु वन्दनाऽगणिता त्रिधा॥१४२॥

अर्थात्—पूर्व-कर्मोंके योगसे जिसे शरीर प्राप्त है; किन्तु जिसकी दशा देहादिकी कल्पना-रहित आत्ममय है उस ज्ञानी-महात्मा पुरुषके चरणकमलोंमें अनन्त बार नमस्कार है।

श्रीसद्गुरुचरणार्पणमस्तु।

सं० १९५२ कुँवार विदी १, गुरुवार, नड़ियाद।

साधन सिद्ध दशा अहीं, कही सर्व संक्षेप।
षट्दर्शन संक्षेपमां, भाख्या निर्विक्षेप॥

क्षमापना

हे भगवान् ! हुं बहु भूली गयो, में तमारां अमूल्य वचनने लक्षमां लीधां नहीं । तमारां कहेलां अनुपम तत्त्वनो में विचार कर्यो नहीं । तमारां प्रणीत करेलां उत्तम शीलने सेव्युं नहीं । तमारां कहेलां दया, शांति, क्षमा अने पवित्रता में ओळख्यां नहीं ।

हे भगवान् ! हुं भूल्यो, आथड्यो-रझळ्यो अने अनंत संसारनी विटम्बनामां पड्यो छउं । हुं पापी छउं । हुं बहु मदोन्मत्त अने कर्मरजथी करीने मलिन छउं ।

हे परमात्मा ! तमारां कहेलां तत्त्वविना मारो मोक्ष नथी । हुं निरंतर प्रपंचमां पड्यो छउं; अज्ञानथी अंध थयो छउं; मारामां विवेकशक्ति नथी अने हुं मुढ छउं, हुं निराश्रित छउं, अनाथ छउं ।

निरागी परमात्मा ! हवे हुं तमारुं, तमारा

धर्मनुं अने तमारा साधुनुं शरण ग्रहुं छउं। मारा अपराध क्षय थई हुं ते सर्व पापथी मुक्त थउं ए मारी अभिलाषा छे। आगळ करेलां पापोनो हुं हवे पश्चात्ताप करुं छउं। जेम जेम हुं सूक्ष्म विचारथी ऊंडो उतरुं छउं तेम तेम तमारां तत्त्वना चमत्कारो मारा स्वरूपनो प्रकाश करे छे। तमे निरागी, निर्विकारी, सत्-चिदानंदस्वरूप, सहजानंदी, अनंतज्ञानी, अनंतदर्शी अने त्रैलोक्यप्रकाशक छो। हुं मात्र मारा हितने अर्थे तमारी साक्षीये क्षमा चाहुं छउं। एक पळ पण तमारां कहेलां तत्त्वनी शंका न थाय, तमारा कहेला रस्तामां अहोरात्र हुं रहुं, ए ज मारी आकांक्षा अने वृत्ति थाओ!

हे सर्वज्ञ भगवान्! तमने हुं विशेष शुं कहुं? तमाराथी कंई अजाण्युं नथी। मात्र पश्चात्तापथी हुं कर्मजन्य पापनी क्षमा इच्छुं छउं।

ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

प्रणिपातस्तुति

अनन्य शरणना आपनार एवा श्रीसद्गुरु-देवने अत्यंत भक्तिथी नमस्कार ।

हे परम कृपालु देव! जन्म, जरा, मरणादि सर्व दुःखोनो अत्यंत क्षय करनारो एवो वीतराग पुरुषनो मूळ मार्ग अनंत कृपा करी आप श्रीमद्‌े [भगवंते] मने आप्यो, ते अनंत उपकारनो प्रतिउपकार वाळवा हुं सर्वथा असमर्थ छुं; वळी आप श्रीमद् [भगवंत] कंई पण लेवाने सर्वथा निस्पृह छो; जेथी हुं मन, वचन, कायानी एकाग्रताथी आपना चरणारविंदमां नमस्कार करुं छुं ।

आपनी परम भक्ति अने वीतराग पुरुषना मूळ धर्मनी उपासना मारा हृदयने विषे भव पर्यंत अखंड जागृत रहो एटलुं हुं मागुं छुं ते सफळ थाओ। ॐ शांतिः शांतिः शांतिः

प्रभु प्रत्ये दीनत्व

हे प्रभु! हे प्रभु! शुं कहुं, दीनानाथ दयाळ;
हुं तो दोष अनंतनुं, भाजन छुं करुणाळ. १
शुद्ध भाव मुजमां नथी, नथी सर्व तुज रूप;
नथी लघुता के दीनता, शुं कहुं परम स्वरूप. २
नथि आज्ञा गुरुदेवनी, अचळ करी उरमांहि,
आपतणो विश्वास द्रढ, ने परमादर नांहि. ३
जोग नथी सत्संगनो, नथी सत सेवा जोग;
केवळ अर्पणता नथी, नथी आश्रय अनुयोग.४
हुं पामर शुं करि शकुं, एवो नथी विवेक;
चरण शरण धीरज नथी, मरण सुधीनी छेक. ५
अचिंत्य तुज महात्म्यनो, नथी प्रफुल्लित भाव;
अंश न एके स्नेहनो, न मळे परम प्रभाव. ६
अचळरूप आसक्ति नहीं, नहीं विरहनो ताप;
कथा अलभ तुज प्रेमनी, नहीं तेनो परिताप ७

भक्तिमार्ग प्रवेश नहीं, नहीं भजन द्रढ भान;
समज नहीं निजधर्मनी, नहीं शुभ देशे स्थान.
काळदोष कळिथी थयो, नहीं मर्यादा धर्म;
तोये नहीं व्याकूळता, जुओ प्रभु मुज कर्म. ९
सेवाने प्रतिकूळ जे, ते बंधन नथी त्याग;
देहेंद्रिय माने नहीं, करे बाह्य पर राग. १०
तुज वियोग स्फुरतो नथी, वचन नयन यम नाहीं
नहीं उदास अनभक्तथी, तेम गृहादिक मांहीं. ११
अहंभावथी रहित नहीं, स्वधर्म संचय नाहीं;
नथि निवृत्ति निर्मळपणे, अन्य धर्मनी कांई. १२
एम अनंत प्रकारथी, साधन रहित हुंय;
नहीं एक सद्गुण पण, मुख बतावुं शुंय ? १३
केवळ करुणा मूर्ति छो, दीनबंधु दीननाथ;
पापी परम अनाथ छुं, ग्रहो प्रभुजी हाथ. १४
अनंत काळथी आथड्यो, विना भान भगवान्;
सेव्या नहीं गुरु संतने, मूक्युं नहीं अभिमान १५

संत चरण आश्रय विना, साधन कर्यां अनेक;
पार न तेथी पामीयो, ऊग्यो न अंश विवेक १८
सहु साधन बंधन थयां, रह्यो न कोई उपाय;
सत् साधन समज्यो नहीं, त्यां बंधन शुं जाय?
प्रभु प्रभु लय लागी नहीं, पड्यो न सद्गुरु पाय,
दीठा नहीं निज दोष तो, तरिये कोण उपाय?
अधमाधम अधिओ पतित, सकळ जगत्मां हुंय;
ए निश्चय आव्या विना, साधन करशे शुंय? १९
पडी पडी तुज पदपंकजे, फरिफरि मागुं एज;
सद्गुरु संत स्वरूप तुज, ए द्रढता करी देज. २०

जिनेश्वर भक्ति

शुभ शीतळतामय छांय रही,
मनवांछित ज्यां फळ पंक्ति कही;
जिन भक्ति गृह्हो तरुकल्प अहो,
भजिने भगवंत भवअंत कहो. १

निज आत्मस्वरुप मुदा प्रगटे,
मनताप उताप तमाम मटे;
अति निर्जरता वणदाम गृहो,
भजिने भगवंत भवंत लहो. २

समभावि सदा परिणाम थशे,
जडमंद अधोगति जन्म जशे;
शुभ मंगळ आ परिपूर्ण चहो,
भजिने भगवंत भवअंत लहो. ३

शुभभाव वडे मन शुद्ध करो,
नवकार महापदने समरो;
नहिं एह समान सुमंत्र कहो,
भजिने भगवंत भवअंत लहो. ४

करशो क्षय केवळ राग कथा,
धरशो शुभ तत्व स्वरूप यथा;
नृपचंद्र प्रपंच अनंत दहो;
भजिने भगवंत भवअंत लहो. ५

परमपद प्राप्ति भावना

(गुणश्रेणी स्वरूप)

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?
क्यारे थईशुं बाह्यांतर निर्ग्रंथ जो ?
सर्व संबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कव महत्पुरुषने पंथ जो. अपू० १

सर्व भावथी औदासीन्य वृत्ति करी,
मात्र देह ते संयमहेतु होय जो;
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहीं,
देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव होय जो. अपू० २

दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे,
देह भिन्न केवल चैतन्यनुं ज्ञान जो;
तेथी प्रक्षीण चारितमोह विलोकियें,
वर्त्ते एवुं शुद्धस्वरूपनुं ध्यान जो. अपू० ३

आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी,
मुख्यपणे तो वर्त्ते देहपर्यंत जो;
घोर परिषह के उपसर्ग भये करी,
आवी शके नहीं ते स्थिरतानो अंत जो. अपू०
संयमना हेतुथी योगप्रवर्त्तना,
स्वरूपलक्षे जिनआज्ञा आधीन जो;
ते पण क्षण क्षण घटती जाती स्थितिमां,
अंते थाये निजस्वरूपमां लीन जो. अपू० ५
पंच विषयमां रागद्वेष विरहितता,
पंच प्रमादे न मळे मननो क्षोभ जो;
द्रव्य क्षेत्रने काळ भाव प्रतिबंधवण,
विचरवुं उदयाधीन पण वीत लोभ जो. अपू०
क्रोध प्रत्ये तो वर्त्ते क्रोधस्वभावता,
मान प्रत्ये तो दीनपणानुं मान जो;
माया प्रत्ये माया साक्षी भावनी,
लोभ प्रत्ये नहीं लोभ समान जो. अपू० ७

बहु उपसर्गकर्त्ता प्रत्ये पण क्रोध नहीं,
वंदे चक्रि तथापि न मळे मान जो;
देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबळ सिद्धि निदान जो. अपू० ८
नग्नभाव, मुंडभाव सह अस्नानता,
अदंतधोवन आदि परम प्रसिद्ध जो;
केश रोम नख के अंगे शृंगार नहीं,
द्रव्यभाव संयममय निर्ग्रंथ सिद्ध जो. अपू० ९
शत्रु मित्र प्रत्ये वर्त्ते समदर्शिता,
मान-अमाने वर्त्ते ते ज स्वभाव जो;
जिवित के मरणे नहीं न्यूनाधिकता,
भव मोक्षे पण शुद्ध वर्त्ते समभाव जो. अपू०
एकाकी विचरतो वळी स्मशानमां,
वळी पर्वतमां वाघ-सिंह संयोग जो;
अडोल आसन ने मनमां नहीं क्षोभता,
परम मित्रनो जणे पाम्या योग जो. अपू० ११

घोर तपश्चर्यामां पण मनने ताप नहीं,
सरस अन्ने नहीं मनने प्रसन्नभाव जो;
रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी,
सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो. अपू० १२
एम पराजय करीने चारितमोहनो,
आवुं त्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो;
श्रेणी क्षपकतणी करीने आरूढता,
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो. अ०
मोह स्वयंभूरमण समुद्र तरी करी,
स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोह गुणस्थान जो;
अंत समय त्यां पूर्ण स्वरूप वीतराग थई,
प्रगटावुं निज केवळज्ञान निधान जो. अपू०
चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां,
भवनां बीजतणो आत्यंतिक नाश जो;
सर्वभाव ज्ञाता दृष्टा सह शुद्धता,
कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनंत प्रकाश जो. अपू०

वेदनीयादि चार कर्म वर्ते जहां,
बळी सींदरीवत् आकृति मात्र जो;
ते देहायुष् आधीन जेनी स्थिति छे,
आयुष् पूर्णे मटियें दैहिक पात्र जो. अपू० १६
मन वचन काया ने कर्मनी वर्गणा,
छूटे जहां सकळ पुद्गल संबंध जो;
एवुं अयोगि गुणस्थानक त्यां वर्त्ततुं,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो. अपू०
एक परमाणुमात्रनी मळे न स्पर्शता,
पूर्ण कलंकरहित अडोल स्वरूप जो;
शुद्ध निरंजन चैतन्यमूर्ति अनन्यमय,
अगुरु लघु अमूर्त सहजपदरूप जो. अपू० १८
पूर्व प्रयोगादि कारणना योगथी,
उर्ध्वगमन सिद्धालय प्राप्त सुस्थित जो;
सादि अनंत अनंत समाधि सुखमां,
अनंत दर्शन, ज्ञान, अनंतसहित जो. अपू०

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहीं पण ते श्री भगवान जो;
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो. अपू०
एह परमपदप्राप्तिनुं कर्युं ध्यान में,
गजा वगरने हाल मनोरथरूप जो;
तोपण निश्चय राजचंद्र मनने रह्यो,
प्रभु आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो. अपू०२१

अमूल्य तत्त्व विचार

बहु पुण्यकेरा पुंजथी,
शुभ देह मानवनो मळ्यो,
तोये अरे! भवचक्रनो
आंटो नहीं एके टळ्यो;
सुख प्राप्त करतां सुख टळे छे,
लेश ए लक्षे लहो;
क्षण क्षण भयंकर भाव मरणे,
कां अहो राची रहो. १

लक्ष्मी अने अधिकार
वधतां शुं वध्युं ते तो कहो;
शुं कुटुंब के परिवारथी,
वधवापणुं ए नय गृहो;
वधवापणुं संसारनुं,
नरदेहने हारी जवो;
एनो विचार नहीं अहोहो!
एक पळ तमने हवो!!! २

निर्दोष सुख निर्दोष आनंद,
ल्यो गमे त्यांथी भले;
ए दिव्य शक्तिमान जेथी,
जंजिरेथी नीकळे;
पर वस्तुमां नहिं मुंझवो,
एनी दया मुजने रही;
ए त्यागवा सिद्धांत के
पश्चात दुःख ते सुख नहीं. ३

हुं कोण छुं? क्यांथी थयो?
शुं स्वरूप छे मारुं खरुं?
कोना संबंधे वळगणा छे?
राखुं के ए परिहरुं?
एना विचार विवेकपूर्वक,
शांतभावे जो कर्या;
तो सर्व आत्मिक ज्ञानना,
सिद्धांत तत्त्व अनुभव्यां. ४
ते प्राप्त करवा वचन कोनुं?
सत्य केवळ मानवुं?
निर्दोष नरनुं कथन मानो
तेह जेणे अनुभव्युं;
रे आत्म तारो! आत्म तारो!
शीघ्र एने ओळखो;
सर्वात्ममां समदृष्टि द्यो,
आ वचनने हृदय लखो. ५